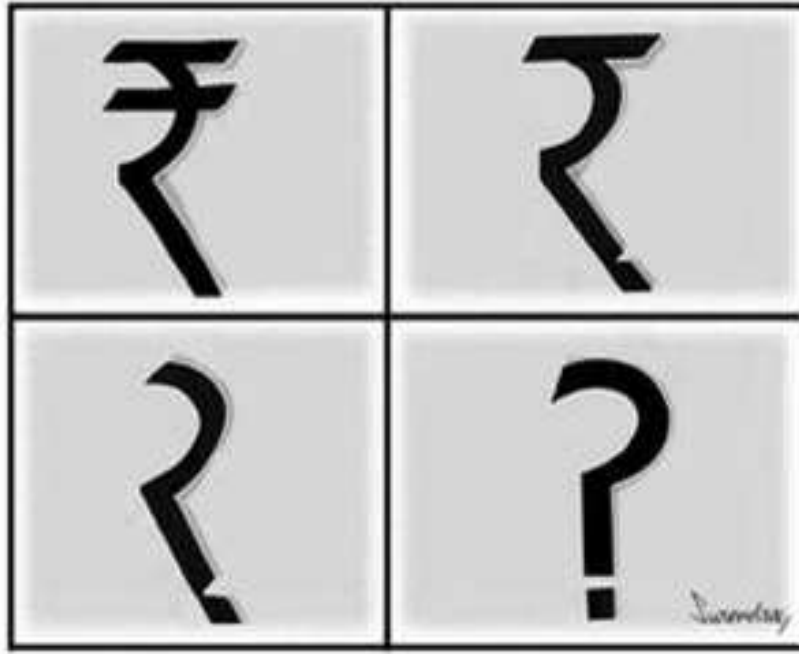


सितंबर 2013 मूल्य: 20 रुपए

# साभयिक वाता

खनन के खिलाफ किशन पटनायक



लुढ़कता रुपया, डूबता भारत

- |  |  |
|--|--|
| <input type="checkbox"/> ब्राजील का फुटबाल आंदोलन        | <input type="checkbox"/> दलित स्त्री की आवाज |
| <input type="checkbox"/> हरियाणवी संस्कृति को कैसे समझें | <input type="checkbox"/> एक थे पेटीमास्टर    |
| <input type="checkbox"/> सीपीएम बनती तृणमूल              | <input type="checkbox"/> बगहा गोलीकांड का सच |
| <input type="checkbox"/> परमाणु ऊर्जा पर घोषणापत्र       | <input type="checkbox"/> कर-माफी की लूट      |

## दुनव में दोहे

खेल ये कुदरत का नहीं, इंसानी करतूत  
मोहना तेरे विकास का, ये है असली रूप।

पीटे ढोल विकास का, खोदे रोज पहाड़  
कुदरत भी कितना सहे, तेरा ये खिलवाड़

बड़ी मशीनें देखकर, रोये खूब पहाड़  
कैसे झेलेगा भला जब आएगी बाढ़।

खनन माफिया से हुआ सत्ता का गठजोड़  
पैसा खूब कमाएंगे, धरती का दिल तोड़।

खंड खंड बहता रहा, हाय उत्तराखंड  
मलबा बन गई जिंदगी, रुका नहीं पाखंड।

आपदा राहत कोष से, होंगे कई अमीर  
जनता बिन राहत मरे, वे खाएंगे खीर।

धरम करम के चोचले, दान पुण्य भी खूब  
भक्त बचे कैसे भला, खुद भगवन गए डूब

गांव बहे और हो गई, खाली यहां जमीन  
बिल्डर लेकर आएगा, अबके नई मशीन

नरेंद्र कुमार मौर्य

# सामयिक वार्ता

सितंबर 2013, वर्ष 37, अंक 1-2

**संस्थापक संपादक:** किशन पटनायक

**संपादक:** सुनील

**उपसंपादक:** बाबा मायाराम

**संपादन सहयोग:**

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन,  
प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

**परामर्श मंडल:**

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया,  
योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

**प्रबंधक:** चंद्रशेखर मिश्रा

**कार्यालय:** सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर  
मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी, जिला  
होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330

(संपादन) 09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल varta3@gmail.com

**आवरण चित्र:** सुरेन्द्रन (साभार द हिंदू)

**सदस्यता शुल्क**

वार्षिक शुल्क: 100 रूपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रूपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रूपए

आजीवन शुल्क: 2000 रूपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा  
'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते  
पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेंसी की राशि कोर बैंकिंग  
के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त  
नाम से खाता क्रमांक 3979000100117987 (ifsc  
code punbo397900) में जमा कर सकते हैं।  
जमा करने की सूचना और अपना पता हमें पत्र  
से अवश्य भेजें। आप पहले से वार्ता के ग्राहक हैं  
लेकिन वार्ता आप तक नहीं पहुंची हो तो एक  
पोस्टकार्ड डालकर हमें भूल-सुधार का मौका दें।

इस अंक में

11

खनन के खिलाफ एक बयान

किशन पटनायक

14

लुढ़कता रुपया, डूबता भारत

सुनील

21

ब्राजील का फुटबाल आंदोलन

रामफजल

27

हरियाणवी संस्कृति को कैसे समझें

अमनदीप वशिष्ठ

32

दलित स्त्री की आवाज

प्रियंका सोनकर

37

तृणमूल का सीपीएम बन जाना

परिमल दत्त

41

एक थे पेटी मास्टर

प्रीतीश आचार्य

44

अपनी भाषा में न्याय का हक

श्यामरुद्र पाठक

46

परमाणु ऊर्जा की असलियत

कुमार सुंदरम

47

परमाणु ऊर्जा पर जन घोषणापत्र

50

कर माफी की लूट

संकलित

54

बगहा गोलीकांड का सच

जांचदल

58

नियमगिरि में जनता की जीत

लिंगराज

## छोटे राज्यों की पहली

अलग तेलंगाना राज्य बनने की घोषणा होते ही देश में कई दूसरी जगहों पर भी अलग राज्य के आंदोलनों ने जोर पकड़ लिया है। खास तौर पर पश्चिम बंगाल में गोरखा इलाके में और असम में बोडो और करबी जनजाति बहुल इलाकों में आंदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया है। दोनों राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने ऐलान किया है कि वे अलग राज्य नहीं बनने देंगे। इससे संकट और टकराव बढ़ता जा रहा है। देश के कई अन्य जगहों पर भी अलग राज्य की मांग उठ रही है जिनमें प्रमुख हैं विदर्भ (महाराष्ट्र), कौशल प्रदेश (ओड़िशा), बुंदेलखंड (मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश), हरित प्रदेश और पूर्वांचल (उत्तर प्रदेश) आदि। इसके अलावा तेलंगाना के पक्ष और विरोध में भी काफी प्रबल जनभावनाएं उमड़ रही हैं।

इसी के साथ देश में एक पुरानी बहस नए सिरे से चल पड़ी है। वह यह कि राज्यों के बंटवारे करके नए छोटे राज्य बनाते जाना सही है या गलत? 'छोटा ही सुंदर है' (स्माल इज ब्यूटीफुल) कहने वालों का मानना है कि छोटे राज्य बनने से सत्ता के केंद्र जनता के पास आएंगे, सत्ता का विकेंद्रीकरण होगा, पिछड़े इलाकों की उपेक्षा दूर होगी, उनका विकास होगा और उन्हें अपनी पहचान मिलेगी। उनके साथ हो रहा भेदभाव दूर होगा। विरोध करने वालों का कहना है कि इससे राष्ट्रीय एकता कमजोर होगी, संकीर्णता और आपसी झगड़े बढ़ेंगे। तर्क यह भी है कि अलग राज्य (या अलग जिले) का आंदोलन चलाने वाले जनता के असली मुद्दों पर से ध्यान बंटते हैं। नया राज्य बनने से भी हालात वही बने रहते हैं और आम जनता की तकलीफें दूर नहीं होती। यह 'फूट डालो और राज करो' की नीति है। झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तराखंड का अनुभव भी कोई अच्छा नहीं रहा है।

तेलंगाना और दूसरे छोटे राज्यों का विरोध करने वाली मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) का कहना है कि देश आजाद होने के बाद हम भाषाई आधार पर राज्य बना चुके हैं और हमें उसी पर कायम रहना चाहिए। उनके टुकड़े नहीं करना चाहिए। इससे देश का संघीय ढांचा कमजोर होगा और केंद्र मजबूत होगा।

सच्चाई क्या है? दरअसल दोनों तरफ की दलीलों में कुछ दम है तो कुछ खोट एवं अधूरापन भी है। इस पूरे मुद्दे पर ज्यादा गहराई से विचार करने और अभी तक के अनुभव से सीखने की जरूरत है।

### तीन छोटे राज्यों का अनुभव

तेरह साल पहले 2000 में बने झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तराखंड के अनुभव निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं। इनके पहले बने हरियाणा और हिमाचल प्रदेश के बारे में अब कोई विवाद नहीं है और यह माना गया है कि अलग राज्य बनने से इनका तेजी से विकास हुआ है। लेकिन झारखंड, उत्तराखंड और छत्तीसगढ़ का अनुभव मिश्रित रहा है। तीनों प्रांतों के लोग खुद को छला हुआ महसूस कर रहे हैं। तीनों प्रांत बनने के बाद वहां भारतीय जनता पार्टी या उसके गठबंधन की सरकारें बनीं। इस अर्थ में यह केंद्र में उस समय सत्तासीन एनडीए सरकार का सफल खेल था। उनके द्वारा शासित राज्यों की संख्या बढ़ गई। अब लोकसभा चुनाव के ठीक पहले तेलंगाना बनाने के फैसले के पीछे भी कांग्रेस का उसी तरह का चुनावी गणित है, इसमें शक नहीं है। नहीं तो वह 2004 से चुनावी घोषणापत्र में शामिल करने के बावजूद तेलंगाना पर टालमटोल ही कर रही थी।

तीनों प्रांत प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर राज्य हैं। दो प्रांत आदिवासी बहुल हैं। लेकिन छत्तीसगढ़ बनने के बाद आदिवासी मुख्यमंत्री बनना तो दूर, वहां आदिवासियों पर जुल्म बढ़ गए हैं। जो छत्तीसगढ़ कभी शंकरगुहा नियोगी के 'संघर्ष और निर्माण' के अद्भुत आंदोलन के लिए जाना जाता था, आज वह सलवा जुडुम के अत्याचारों के लिए और माओवादियों के सबसे बड़े गढ़ के रूप में जाना जा रहा है। 'हमारा छत्तीसगढ़ कैसा होगा' की छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा की कल्पना कहीं दूर खो गई है। पूरे छत्तीसगढ़ में देशी-विदेशी कंपनियों का साम्राज्य बन गया है।

कंपनियों का राज झारखंड और उत्तराखंड में भी कायम हुआ है। झारखंड के पूर्व मुख्यमंत्री मधु कौड़ा ने

भ्रष्टाचार का जो नया कीर्तिमान कायम किया है, वह इन कंपनियों के साथ सांठ-गांठ से ही संभव हो पाया है। उत्तराखंड में जो अभूतपूर्व विभिषिका इस साल आई, वह भी कंपनियों, ठेकेदारों और पर्यटन व्यवसाय के नए पूंजीपतियों के साथ नेताओं-अफसरों की मिलीभगत से उपजे गलत विकास का ही परिणाम है। तीनों राज्यों में गरीबी, बेरोजगारी, विस्थापन, भ्रष्टाचार, प्रशासनिक संवेदनशून्यता और राजनीति की गिरावट का वही आलम है जो अलग होने के पहले था। बल्कि शायद पहले से ज्यादा बुरी हालत हुई है। यह कहा जा सकता है कि ये नए छोटे राज्य कुल मिलाकर पुराने बड़े राज्यों के क्लोन या संस्करण ही साबित हुए हैं। वहां कुछ भी नया नहीं है। इस अनुभव से छोटे राज्य एक पहली की तरह लगते हैं।

### आंतरिक उपनिवेश और केंद्रीकृत सत्ता

फिर भी यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि इन छोटे राज्यों का निर्माण केवल बहुराष्ट्रीय कंपनियों की साजिशों या छुटभय्ये नेताओं की सत्ता की महत्वाकांक्षाओं का नतीजा था। छोटे राज्यों की मांग के पीछे अक्सर पिछड़े इलाकों की उपेक्षा और वंचना से उपजा गहरा जनअसंतोष रहता है। पूंजीवादी विकास की विशेषता है कि वह कई तरह की गैरबराबरियों और असंतुलनों को बढ़ाता है, जिनमें क्षेत्रीय पिछड़ापन और असंतुलन एक प्रमुख प्रवृत्ति है। भारत में जितने भी इलाकों में अलग राज्य बनाने की मांग उठी है, वे एक तरह के आंतरिक उपनिवेश ही रहे हैं। जब इन इलाकों के लोग अपनी आवाज उठाते हैं तो सत्ता के केंद्र दूर होने और सत्ता में उनकी विशेष भागीदारी नहीं होने से इस आवाज को अनसुना कर दिया जाता है या दबाने की कोशिश होती है। इससे असंतोष और भड़कता है तथा उन्हें लगता है कि अलग राज्य बनने पर ही उन्हें न्याय मिलेगा। इस असंतोष के पीछे आर्थिक कारण तो होते ही हैं, सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनैतिक उपेक्षा तथा भेदभाव के कारण भी जुड़ जाते हैं।

भारत में सत्ता और प्रशासन के जबरदस्त केंद्रीकृत ढांचे से भी मामला उलझता जाता है। केंद्र सबसे ज्यादा शक्तिशाली है और उसके बाद प्रांतों की राजधानियों में सत्ता के केंद्र हैं। इसके नीचे ग्रामसभाओं, ग्राम पंचायतों नगरपालिकाओं या नगरनिगमों को सत्ता का वास्तविक

हस्तांतरण नहीं हुआ है, उन्हें केवल ऊपर से पैसा मिलता है और उसमें भ्रष्टाचार करने का अधिकार मिलता है। लोहिया के चौखंभा राज (केंद्र, राज्य, जिला और गांव) का एक खंभा यानी जिला सरकार तो पूरी तरह गायब है। सत्ता के इस जबरदस्त केंद्रीकरण के कारण स्थानीय समुदायों की जायज मांगों और आकांक्षाओं का भी समाधान नहीं हो पाता है और वे अपना अलग राज्य बनाने और कुछ मामले में अलग देश बनाने की दिशा में गंभीरता से सोचने लगते हैं। लेकिन छोटा राज्य बनने पर भी चूंक सत्ता और प्रशासन का ढांचा, आदतें व रवैये वही रहते हैं, इसलिए हालत ज्यादा नहीं बदलती। छोटे राज्य तभी सार्थक होंगे, जब सत्ता और नीचे जाएगी।

सत्ता का केंद्रीकरण बना रहने के कारण ही गोरखालैंड और बोडोलैंड की स्वायत्तशायी परिषदों के प्रयोग असफल हो गए हैं। संसाधन, नौकरशाही, सत्ता सबके असली सूत्र कोलकाता व गुवाहाटी में ही बने रहे।

इसी केंद्रीकृत सत्ता के चलते पिछले दो दशकों में केंद्र सरकार ने वैश्वीकरण प्रेरित 'सुधारों' को राज्य सरकारों पर थोपा है। केंद्र सरकार से मिलने वाली सहायता को उन्होंने इन सुधारों से जोड़ दिया है। चूंकि राज्य सरकारों में बैठे लोगों की भी जनता के प्रति कोई निष्ठा और वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं थी तथा वे भी नई नीतियों से बहने वाली भ्रष्टाचार की गंगा में नहाने के नए अवसर देख रहे थे, इन जन-विरोधी, राष्ट्र-विरोधी सुधारों को वे स्वीकार करते गए। कोयला खदानों के बंदरबांट के घोटाले की शुरुआत केंद्र से हुई लेकिन उससे उजड़ने का खामियाजा झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश और विदर्भ के लोगों को भुगतना पड़ रहा है। नए राज्यों की विडंबनाओं का एक पहलू यह भी है।

### भाषाई राज्य की असफलता

देश को आजादी मिलने के वक्त महात्मा गांधी तथा कांग्रेस भाषाई आधार पर राज्य बनाने के पक्ष में थे, हालांकि प्रधानमंत्री बनने के बाद नेहरू ने उसमें काफी टालमटोल की। सोचा यह था कि भाषा के आधार पर प्रांत बनने से उस प्रांत का कामकाज और शिक्षा वहां की भाषा में चलेंगे और अंगरेजी की जकड़ से देश मुक्त होगा। भारत में भाषाई आधार पर पहला प्रांत आंध्रप्रदेश बना, जिसका गठन पोद्दी सीतारामुलु के 53 दिन के अनशन के बाद मर जाने के बाद 1953 में हुआ था। तेलगूभाषी

होने के नाते तेलंगाना को उसमें 1956 में शरीक किया गया और उसकी आशंकाओं को दूर करने के लिए एक समझौता हुआ। लेकिन इस समझौते का पालन नहीं हुआ और अलग तेलंगाना का आंदोलन बीच-बीच में उठता रहा। अभी तक सैकड़ों की तादाद में लोग इस आंदोलन में मर चुके हैं।

अलग तेलंगाना राज्य का गठन एक तरह से भाषाई प्रांत के सिद्धांत की असफलता की खुली घोषणा है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, असम जैसे भाषाई आधार पर बने अन्य प्रांतों में भी कई हिस्से अलग होने के लिए बेचैन हैं। दो कारण तो वे हैं जिनका जिक्र ऊपर किया है— दोषपूर्ण विकासनीति और सत्ता का केंद्रीकृत ढांचा। लेकिन कारण यह भी है कि सरकारी कामकाज, शिक्षा, अदालतों आदि में अंगरेजी का वर्चस्व खतम नहीं हुआ और एक छोटे अंगरेजीदां तबके के हाथ में सत्ता की चाबी छिपी रही। और यह भी कि प्रांतीय भाषाओं के जिन मानकीकृत रूपों को चलाया गया, वे प्रांतों के कई हिस्सों के लोगों की भाषा नहीं थी। न तो वे इससे अपनापा महसूस कर पाए और न इसका सहारा लेकर आगे बढ़ पाए।

भारत एक जबरदस्त विविधताओं वाला देश है। इसमें भाषाई विविधता भी काफी है। जितने बड़े प्रांत अभी हैं, उनके अंदर भी कई भाषाएं चलती हैं। पश्चिम ओडिशा के लोग कहते हैं कि उनकी भाषा ओडिया नहीं, संबलपुरी है। उत्तर बंगाल के लोग कहते हैं कि उनकी भाषा बांगला नहीं कामतापुरी (राजवंशी), सादरी या नेपाली है। महाराष्ट्र में कोंकण इलाके की भाषा कोंकणी है, मराठी नहीं। पश्चिमी कर्नाटक के इलाके में लोग कन्नड़ नहीं, तुलु बोलते हैं। हिंदी प्रांतों में तो दर्जनों भाषाएं हैं— भोजपुरी, मैथिली, मगही, वज्जिका, अवधी, ब्रज, बुंदेली, मालवी, निमाड़ी, हाड़ौती, मारवाड़ी, हरियाणवी, छत्तीसगढ़ी, कुमाऊं, गढ़वाली, डोगरी आदि। हर जगह आदिवासी समुदायों की भाषाएं अलग हैं। और उत्तर-पूर्व तो भाषाई विविधता का खजाना है। अभी तक इन सब भाषाओं को बोलियां कहकर नजरअंदाज किया जाता रहा है। लेकिन अब उन सबको बोलने वाले लोगों की लोकतांत्रिक आकांक्षाएं जाग उठी हैं। अलग राज्यों की मांग के पीछे यह आकांक्षा भी है। यह भी याद रखना चाहिए कि भाषा के साथ एक पूरा संसार जुड़ा होता है— लोकगीत, लोककथाएं, लोककलाएं, लोकसंस्कृति, स्थानीय इतिहास

और संप्रेषण के तमाम तरीके। स्थानीय लोकभाषा में शिक्षा व सरकारी कामकाज चलने पर ही सही मायने में भागीदारी हो पाएगी और सच्चा लोकतंत्र आ पाएगा।

## बेबुनियाद डर

इस मामले में यह शंका खड़ी की जाती है कि इतनी ज्यादा क्षेत्रीयता और विविधता को प्रश्रय देने से राष्ट्रीय एकता कमजोर होगी। संकीर्णता और अलगाव की भावना बढ़ेगी। यह भी डर दिखाया जा रहा है कि अलग राज्य की मांग कबूल करते जाएंगे तो देश में 28 की जगह 50 राज्य बनाने पड़ेंगे।

लेकिन यह डर बेबुनियाद है। संयुक्त राज्य अमरीका में भी 50 राज्य हैं। इससे वह टूट तो नहीं गया। न ही उसकी ताकत कुछ कमजोर हुई। अभी भी भारत के कई प्रांत आबादी व क्षेत्रफल में दुनिया के कई देशों से बड़े हैं। उनमें सुदूर हिस्सों से राजधानी पहुंचने में ग्रामीणों को दो दिन लग जाते हैं। इसलिए प्रशासन की छोटी इकाईयां बनाने में कोई हरज नहीं है। क्षेत्रीय व स्थानीय चेतना भी हमेशा नकारात्मक होना जरूरी नहीं है। बल्कि विविधता, बहुलता और स्थानीयता की रक्षा करके तथा उनको बढ़ावा देकर ही भारत राष्ट्र सही मायने में मजबूत हो सकेगा। 'विविधता में एकता' नारे का यही आशय है।

लेकिन नए राज्य बनाने का फैसला सरकारों व दलों के राजनैतिक अवसरवाद पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए। दूसरा राज्य पुनर्गठन आयोग बनाना ही इसका श्रेष्ठ समाधान है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि केवल छोटे राज्य बनने से लोगों के दिन नहीं फिरने वाले हैं। इसके साथ जरूरी है कि देश में सत्ता का वास्तविक विकेंद्रीकरण हो, सूबों, गांवों और नगरों को सही मायने में स्वायत्ता मिले, आर्थिक नीतियां और विकास का मॉडल भी बदले तथा स्थानीय भाषाओं—बोलियों को समुचित संरक्षण व मान्यता मिले। याने कई चीजें एक साथ बदलनी होंगी। आधुनिक भारतीय राजनीति का एक दोष यह है कि वह समस्याओं का सरल, सतही और आंशिक समाधान खोजती है। गांधी ने स्वराज, लोहिया ने सप्तक्रांति और जेपी ने संपूर्ण क्रांति की अवधारणाएं देकर काफी पहले चेतना था कि हमें कई ढांचों को एक साथ बदलने की तैयारी करना होगा। इसके बगैर निराशा ही हाथ आएगी।

सुनील

## बैनकाब होता अमरीका

दुनिया की जासूसी के चक्कर में नागरिक स्वतंत्रता व निजता की उड़ती धज्जियां

अमरीका की डेमोक्रेटिक पार्टी के सांसद जॉन लुइस ने एडवर्ड स्नोडेन की तुलना महात्मा गांधी से करते हुए कहा- “अहिंसा के दर्शन और अनुशासन के अनुरूप, गांधी जैसे व्यक्तियों की शिक्षाओं के मुताबिक, अगर आप मानते हैं कि कोई बात सही नहीं है, कुछ अन्यायपूर्ण है, और आप रिवाजों, परंपरा और गलत कानूनों का उल्लंघन करने को तैयार हों तो कहा जाएगा कि आपके पास अंतरात्मा है।” स्नोडेन के बारे में ऐसी राय रखने वाले अमरीकियों की बढ़ती संख्या का ही यह परिणाम है कि राष्ट्रपति बराक ओबामा को राष्ट्रीय सुरक्षा एजेंसी (एनएसए) के जासूसी कार्यक्रम में सुधार की योजना घोषित करनी पड़ी। इस संदर्भ में विकीलिक्स के संस्थापक जुलियन असांज की यह टिप्पणी सटीक है कि ओबामा की घोषणाओं से स्नोडेन के व्हिसलब्लोअर (गड़बड़ी उजागर करने वाला) होने की पुष्टि हो गई है और यह स्नोडेन की जीत है।

ओबामा प्रशासन ने स्नोडेन को अपराधी ठहराने और विकीलिक्स को गोपनीय दस्तावेज देने वाले ब्रैडली मैनिंग की तरह उन पर देशद्रोह का मुकदमा चलाने की कोशिश में कोई कसर नहीं छोड़ी। जब एनएसए के दस्तावेज जारी करने के बाद स्नोडेन ने हांगकांग में शरण ली, तब से उन्हें अमरीका लाने के प्रयास शुरू हो गए और वहां से वापस भेजने के लिए चीन पर दबाव डाला गया। जब उन्होंने मास्को हवाई अड्डे में पनाह ली तो रूस पर दबाव डाला गया। रूस में एक सम्मेलन में भाग लेने के बाद वहां से लौट रहे बोलिविया के राष्ट्रपति इवो मोरालेस के विमान को जिस तरह अमरीका दबाव में यूरोपीय देशों ने अपने वायु क्षेत्र में उड़ने की इजाजत नहीं दी और जिन हालात में उन्हें वियना में उतरना पड़ा, वह अब अमरीका की दादागिरी की एक मिसाल के रूप में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हो चुका है। जब रूस ने स्नोडेन को औपचारिक रूप से पनाह दे दी तो ओबामा ने रूसी राष्ट्रपति व्लादीमीर पुतिन के साथ तय अपनी दोतरफा वार्ता को रद्द कर दिया।

इसके बावजूद अगर ओबामा को एनएसए के जासूसी कार्यक्रम में सुधार की घोषणा करनी पड़ी तो इसीलिए कि अमेरिका में अधिक से अधिक लोग यह

मानने लगे हैं कि स्नोडेन ने गुपचुप उनकी निजता में हो रहे दखल को जग-जाहिर कर असल में देश की सेवा की है।

ओबामा ने जिन सुधारों का ऐलान किया, उसके मुताबिक वे कांग्रेस (अमरीकी संसद) के साथ मिल कर जॉर्ज बुश जूनियर के जमाने में बने पैट्रियॉट कानून की धारा 215 में संशोधन का प्रयास करेंगे, जिसके तहत एनएसए को कुछ खास मामलों में निजी फोन बातचीत से संबंधित जानकारी इकट्ठा करने का अधिकार है। उसके बाद अमरीका के न्याय विभाग ने धारा 215 के तहत सरकार द्वारा जानकारियां जुटाने के पक्ष में मौजूद कानूनी तर्कों का ब्यौरा देते हुए एक बयान जारी किया। दूसरे कदम के तौर पर ओबामा ने एक स्वतंत्र आयोग के गठन की घोषणा की जो एनएसए के जासूसी तरीकों की समीक्षा करेगा। तीसरे कदम के रूप में ओबामा ने विदेशी गुप्तचर निगरानी अदालत में सुधार करने का प्रस्ताव किया, जिसके तहत एक विशेष निजी अधिवक्ता की कोर्ट में नियुक्ति की जाएगी। लेकिन ये सुधार तभी हो सकेंगे, अगर अमरीकी संसद इन्हें मंजूरी देगी।

इन प्रयासों से अमरीकी प्रशासन पर नागरिकों की निजी स्वतंत्रता एवं राजनयिक निजता के हनन के गहराए आरोप कितने धुलेंगे, कहना कठिन है। दरअसल, एनएसए के पूर्व कॉन्ट्रैक्टर स्नोडेन का मामला अकेला नहीं है। इसके पहले ब्रैडली मैनिंग के मामले में सच्चाई सामने लाने वालों के प्रति अमरीका का कठोर रुख साफ हो गया है। ओबामा प्रशासन पर यह आरोप भी गहरा होता गया है कि वह आलोचनात्मक रुख रखने वाले पत्रकारों, लेखकों और नागरिक संगठनों को परेशान कर रहा है और उन पर बेजा दबाव डाल रहा है। विकीलीक्स को अमरीका सैन्य अभियानों के खुफिया दस्तावेज मुहैया कराने के आरोपों का सामना कर रहे पूर्व अमरीका सैनिक ब्रैडली मैनिंग को सेना की एक अदालत ने दोषी पाया है और इसके साथ ही मैनिंग को सजा सुनाने का रास्ता साफ हो गया है। मैनिंग नवंबर 2009 से मई 2010 तक इराक में तैनात थे और उन पर करीब 7000 खुफिया दस्तावेज लीक करने का आरोप है। उन्होंने ये दस्तावेज विकीलीक्स को दिए, जिसने इन्हें

सार्वजनिक कर दिया।

मैनिंग के मामले में न्यायाधीश डेनिस लिंड द्वारा सुनाए गए फैसले का सबसे अहम पक्ष यही है कि उनको 'दुश्मन की मदद' करने के आरोप से मुक्त कर दिया गया। इससे उनके सिर से मौत की सजा का खतरा टल गया। इस फैसले को ओबामा प्रशासन की उस मुहिम के लिए कुछ हद तक तो झटका माना गया है जिसमें वह ह्विसलब्लोअर्स और प्रशासन के निगरानी कार्यक्रमों पर आलोचनात्मक रुख रखने वाले पत्रकारों, लेखकों और नागरिक समाज के एक हिस्से को खुफिया कानूनी प्रावधानों के जरिए परेशान कर रही है और उन पर दबाव बना रही है।

मैनिंग पर आरोप साबित होने के बाद ओबामा प्रशासन की इस कोशिश में जुट गया कि मैनिंग को कड़ी से कड़ी सजा दिलवाई जाए। उसकी कोशिश उन लोगों को कड़ा संदेश देने की है, जो उसकी राय में अमरीका के सुरक्षा और सूचना तंत्र में संध लगा रहे हैं। अफसोस की बात यह है कि इस कोशिश में नागरिकों, पत्रकारों और सरकार को जिम्मेदार बनाने वाली सभी संस्थाओं के अधिकारों में कटौती और उन पर दबाव बनाने का सिलसिला जारी है। मगर इस क्रम में नागरिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत निजता की सुरक्षा के प्रति अमरीका की निष्ठा लगातार अधिक बेनकाब होती जा रही है।

## अदालत और राजनीतिक सुधार

### राजनीति की विकृतियां अदालती फैसलों से दूर नहीं की जा सकती

सुप्रीम कोर्ट के तीन फैसलों, केंद्रीय सूचना आयोग के एक राजनीतिक आदेश और इलाहाबाद हाई कोर्ट के अंतरिम आदेश ने राजनीतिक दलों और संवैधानिक संस्थाओं को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। बहस खड़ी हो गई है कि न्यायपालिका जरूरत से ज्यादा दखलंदाजी कर रही है और राजनीति जैसे क्षेत्र में हस्तक्षेप करके उसे सुधारने की कोशिश कर रही है। राजनीतिक दलों ने उसे साफ चुनौती देते हुए उसके आदेशों को पलटने की उसी तरह से तैयारी कर ली है जिस तरह से कभी अस्सी के दशक में शाहबानो के फैसले के बाद पहल की गई थी। हालांकि तब फैसले के खिलाफ इतनी राजनीतिक एकता नहीं थी जितनी आज बन गई है। न्यायपालिका और देश की कुछ छोटी पार्टियों समेत कई गैर-सरकारी संगठनों का मानना है कि इससे राजनीति पारदर्शी बनेगी और लोकतंत्र मजबूत होगा क्योंकि राजनीतिक दल आखिरकार हमारी व्यवस्था को संचालित करते हैं और वे बेहतर तरीके से तभी काम कर सकते हैं जब उनके हाथ साफ सुथरे हों और उनके भीतर आर्थिक हिसाब-किताब पर स्पष्टता हो।

देश की सर्वोच्च अदालत के इन फैसलों के

इरादे तो अच्छे दिखाई देते हैं, किन्तु कुछ व्यावहारिक दिक्कतों पर उसने गौर नहीं किया है। आखिरकार राजनीतिक कार्यकर्ता जनसंघर्ष में उतरेगा तो उस पर व्यवस्था मुकदमे दायर करेगी ही और अगर उसके आधार पर उसे चुनाव प्रक्रिया से बाहर कर दिया गया तो राजनीति बदलाव का औजार बनने के बजाय व्यवस्था की पृष्ठपोषक बनकर रह जाएगी। मध्यप्रदेश के मुलताई के पूर्व विधायक सुनीलम का उदाहरण बताता है कि सत्ता के द्वारा विरोधियों को गलत मुकदमों में फंसाया भी जा सकता है और सजा भी दिलवाई जा सकती है। ऐसे मामलों में अपील का भी अधिकार ना देकर अयोग्य घोषित करना नाइंसाफी है और सत्ता के राजनीतिक दुरुपयोग को बढ़ाएगा। इससे भी ज्यादा गलत वह फैसला है जो पुलिस हिरासत या न्यायिक हिरासत (जेल) में होने पर चुनाव में नामांकन फॉर्म भरने से भी वंचित करता है। इससे सत्ता दल के लिए किसी विपक्षी उम्मीदवार को किसी भी गलत शिकायत पर गिरफ्तार करके उसे फॉर्म भरने से रोकना बहुत आसान हो जाएगा। आखिर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि जेल से केवल पप्पू यादव ही नहीं, 1977 में जार्ज फर्नांडीस भी चुनाव लड़े हैं।



सुप्रीम कोर्ट में तीसरा मामला एस सुब्रह्मण्यम बालाजी बनाम तमिलनाडु सरकार का है। इस मामले में हालांकि अदालत ने चुनावी घोषणापत्र में किए जाने वाले वादों के आधार पर जनता में चावल, गेहूं, टीवी, गैस चूल्हा और लैपटॉप बांटने को गलत नहीं बताया है लेकिन इसी के साथ यह माना है कि तमाम तरह के उपहार बांटने से चुनाव की निष्पक्षता प्रभावित होती है। यानी वे सब रिश्वत की श्रेणी में तो नहीं आते लेकिन उन्हें कम करने से ही निष्पक्ष चुनाव लड़ा जा सकता है। अदालत ने कहा है कि चुनाव आयोग इस बारे में कोई सुझाव प्रस्तुत करे ताकि चुनाव प्रक्रिया को निष्पक्ष बनाया जा सके। लेकिन इसमें कितनी रोक व्यावहारिक रूप से लगाई जा सकेगी, यह एक सवाल है। क्या एक लोकतंत्र में चुनाव लड़ने वाली पार्टियों के चुनाव घोषणापत्रों पर कोई बंदिशें लगाई जा सकती हैं, यह भी एक सवाल है।

तीसरा विवाद और विमर्श उस समय तेज हुआ जब इलाहाबाद हाई कोर्ट की लखनऊ खंडपीठ ने जाति आधारित रैलियों को गलत बताते हुए राजनीतिक दलों से उसे रोकने का आदेश दिया। यह सही बात है कि जाति के आधार पर राजनीति को संगठित करना एक स्वस्थ चीज नहीं है। लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इस देश में जाति व्यवस्था आज भी मौजूद है और दबी हुई जातियों के लोगों के सामने कई बार अपनी निम्न स्थिति से उबरने और अपनी पहचान व अपने हकों की आवाज उठाने का

एक तरीका अपनी जाति को संगठित करना होता है। इस मायने में बसपा नेता मायावती का कहना मौजूद है कि जब तक जातियां रहेंगी तब तक इस तरह की रैलियां होती रहेंगी।

सूचना अधिकार आयोग का यह फैसला संभवतः सबसे सही है कि राजनीतिक दल भी सूचना के अधिकार की जद में आते हैं। लेकिन इसके खिलाफ सारे दल गोलबंद हो गए हैं। महज भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपवाद स्वरूप अपने यहां सूचना अधिकारी नियुक्त किया है। बाकी माकपा सहित दूसरी तमाम पार्टियों ने सूचना के अधिकार को ठेंगा दिखाने के लिए कमर कस ली है। राजनीतिक दलों में बढ़ते कारपोरेट योगदान को देखते हुए यह स्थिति चिंताजनक है। अगर राजनीतिक दल अपने उम्मीदवार चुनने और पदाधिकारी चुनने के फैसले को छुपाना चाहें तो एक वह एक हद तक वाजिब लगता है लेकिन अगर वे अपना लेखा-जोखा छुपाना चाहती हैं तो जाहिर है कि दाल में कुछ काला है।

इसमें शक नहीं कि भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था और भारतीय राजनीति में आज काफी कमियां और विकृतियां हैं, लेकिन अदालती फैसलों से इन्हें बहुत ज्यादा दूर नहीं किया जा सकता। अंततः तो यह जन चेतना और जन आन्दोलन से ही दूर होंगी। बहुत ज्यादा न्यायिक या प्रशासनिक हस्तक्षेप दूसरी समस्याएं पैदा कर सकता है।

## काले रहो प्यारे रहो

गोरे को सुंदर, काले को बुरा मानना एक विकृत मानसिकता है

फिल्म अभिनेत्री नंदिता दास पिछले दिनों एक नई मुहिम से जुड़ी हैं जिसका नाम है 'सांवले रहो, प्यारे रहो' (स्टे अनफेयर, स्टे लवली)। हमारे समाज में गोरे रंग के प्रति जो आकर्षण और श्रेष्ठता का भाव है और जिसके चलते 'फेयर एंड लवली' जैसे गोरेपन की दरजनों क्रीमों का धंधा चल रहा है, यह उसके खिलाफ विद्रोह की एक आवाज है। इस मुहिम का कहना है कि इन क्रीमों को फेंक दो। चमड़ी के रंग को हम सुंदरता से क्यों जोड़े? जिस देश में नब्बे फीसदी लोग काले हों, वहां हम अपनी

त्वचा के रंग के बारे में हीनभावना क्यों पालें ?

भारतीय फिल्म जगत में शायद नंदिता दास एकमात्र अभिनेत्री हैं जिसने अपनी फिल्म शूटिंग में गोरा दिखने के मेकअप का विरोध किया है। वे अपने अनुभव बताती हैं कि निर्देशक जिद करते थे कि यह किरदार उच्च वर्ग की महिला का है, इसलिए उनका रंग उजला दिखना चाहिए। वे मानकर चलते हैं कि ऊंची जात के और अमीर लोग गोरे होते हैं तथा पिछड़ी-दलित जातियों के और गरीब लोग काले होते हैं। इस तरह के आग्रहों के चलते दिवंगत

अभिनेत्री स्मिता पाटिल के तो आंसू निकल आते थे। नंदिता बताती हैं कि फिल्मों में आने के पहले जब वे ओडिशा के गांवों में अपना अध्ययन कर रही थीं, तब कई घरों में बिजली, पानी, शौचालय या पर्याप्त खाने को नहीं था, लेकिन गोरेपन क्रीम की ट्यूब जरूर दिख जाती थी। वे कहती हैं कि मेरे बारे में पत्र-पत्रिकाओं में जितने लेख निकलते हैं, उनमें मेरे काले होने का जिक्र जरूर होता है।

यह सचमुच एक विचित्र बात है। जाहिर है कि 'रंगभेद' केवल अमरीका-यूरोप के गोरे मुलकों में ही नहीं है, एशिया के भारत जैसे देशों में भी गहराई में छिपा है। मजे की बात है कि जिस भारतीय को भारत में गोरा कहा जाता है, वह भी अमरीका-यूरोप में काला या रंगीन ही माना जाता है। अमरीका-यूरोप में भी अब काफी आबादी काले व रंगीन लोगों की है लेकिन वहां गोरेपन की क्रीमों की बिक्री नहीं होती। उनका सबसे बड़ा बाजार एशिया में और खास तौर पर भारतीय उपमहाद्वीप में है। फैशन की बात करें तो गोरे मुलकों में उलटा फैशन है। वहां के गोरे लोग अपनी चमड़ी के रंग को काला करने के लिए समुद्र तटों पर जाकर घंटों धूप में लेते रहते हैं और चमड़ी को झुलसाते हैं।

चमड़ी के रंग के बारे में इस कुंठा का सबसे ज्यादा दुष्परिणाम भारतीय महिलाओं को भोगना पड़ता है। शादी के बाजार में लड़कियों को अच्छा वर मिले, इसके लिए उन्हें गोरा होना या दिखना जरूरी है। नई बहू घर में आती है, तो उसके गुण नहीं देखे जाते हैं। पहली टिप्पणी उसके रंग पर ही होती है। गोरा होने और सुंदर होने को कई बार एक मान लिया जाता है। सांवले रंग की युवतियों को बेइज्जती, कुंठा और हीनभावना का शिकार होना पड़ता है। एयरहोस्टेस, होटल परिचारिकाएं जैसी कई नौकरियों में उनके चयन की संभावनाएं कम हो जाती हैं। यह मानसिकता इतनी

व्यापक है कि हमारी गुड़ियाएं गोरी होती हैं, चित्रकथाओं में नायकों को गोरा बताया जाता है और राक्षसों को काला बताया जाता है।

भारत जैसे गरम मुलकों में रहने वालों का रंग कुदरती तौर पर काला होता है। सूरज की तेज किरणों के प्रभाव और विकिरण से बचने के लिए कुदरत ने मानव त्वचा को काला बनाया है। विडंबना है कि ऐसे देश में काले रंग को कुरूप, बुरा और अशुभ माना जाने लगा है। हम काला धन, कालाबाजारी, काला दिवस, काल झंडा, काली करतूत जैसे शब्दों व प्रतीकों का प्रयोग करने लगे हैं। करीब-करीब ये सारे शब्द व मुहावरे अंगरेजी से आए हैं। इससे मालूम होता है कि आजाद होने के बाद भी गुलामी का गहरा असर हमारे दिलो-दिमाग पर मौजूद है। पिछली सदी में समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया ने इस पर सवाल उठाया था। उन्होंने हमारा ध्यान इस तरफ खींचा था कि भारतीय संस्कृति में काले रंग को बुरा नहीं माना गया है और हमारे कई देवी-देवता (राम, कृष्ण, शिव, काली आदि) काले रंग के हैं।

भारतीय समाज में आज कई विकृतियां व्याप्त हैं। जाति प्रथा, स्त्री-पुरुष भेद, श्रम का तिरस्कार, अंगरेजी का वर्चस्व, उपभोक्ता संस्कृति आदि के साथ गोरेपन के प्रति यह ललक भी एक बुराई है। कई मामलों में हम आज भी उन्नीसवीं सदी में जी रहे हैं। केवल जीन्स पहनने या मोबाईल रखने से हम आधुनिक नहीं हो जाते। यदि हम सच में आधुनिक बनना चाहते हैं, तो इन सारी बुराईयों और मानसिकता के खिलाफ जिहाद छोड़ना पड़ेगा। लेकिन इसक लिए इंटरनेट पर 'ऑनलाईन' प्रचार से काम नहीं चलेगा। गांधी, फुले, आंबेडकर, लोहिया, विवेकानंद या दयानंद सरस्वती की तरह करोड़ों भारतवासियों के बीच जाकर उनके दिल-दिमाग को हिलाना व साफ करना पड़ेगा।

## सामयिक वार्ता दुकानों पर

:- उत्तराखण्ड

अल्मोड़ा किताब घर,  
मित्रभवन, गांधी मार्ग,  
अल्मोड़ा, उत्तराखण्ड  
फ़ोन: 09412092061

:- मध्यप्रदेश :-

दुबे न्यूज एजेंसी,  
गोठी धर्मशाला,  
रेलवे स्टेशन के सामने,  
इटारसी (म.प्र.)

दिल्ली :-

गंगा टाबा बस स्टॉप स्टाल,  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,  
नई दिल्ली- 110067

# खनन के खिलाफ एक बयान

किशन पटनायक



नवीं पुण्यतिथि : 27 सितंबर 2004

स्थानीय स्तर से लेकर दुनिया के स्तर तक खनिज और खदानें आज संकटों, संघर्षों, विवादों और घोटालों के केंद्र में हैं। इस स्थिति का तकाजा है कि खनन के बारे में बुनियादी स्तर पर पुनर्विचार किया जाए। धरती की कोख से कितना खनिज निकालें और कब तक, इस खनिज का आखिरकार क्या उपयोग होता है और वह कितना जरूरी है, इसमें किसके हित हैं और किसका नुकसान है, अंधाधुंध खनन के पीछे कौन सी ताकतें हैं, विकास, वृद्धि, भोगवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, आंतरिक उपनिवेश और वैश्वीकरण से इसका क्या रिश्ता है, आदि कई सवाल खड़े होते हैं जिनका जवाब खोजना जरूरी है।

समाजवादी चिंतक और सामयिक वार्ता के संस्थापक संपादक किशन पटनायक उन बिरले मनीषियों में से थे, जिन्होंने काफी पहले से इन संकटों को देखा, सवालों को पहचाना और विकास या वृद्धि के भ्रमजाल को तोड़ते हुए इस बारे में स्पष्ट, खुली और क्रांतिकारी राय रखी। 2001 में ओड़िया पत्र 'विकल्प विचार' के संपादकीय के रूप में लिखे गए इस लेख

को पहली बार ओड़िया से अनुवाद करके हिंदी में उनकी नवीं पुण्यतिथि पर पेश किया जा रहा है।

यह भी एक संयोग है कि इस समय सर्वोच्च न्यायालय के जिस निर्देश के अनुसार नियमगिरि पर्वत में बाक्साईट खनन पर हो रही कंध आदिवासी गांवों की ग्राम सभाओं पर पूरी दुनिया की नजर है, उसी सुझाव के साथ किशनजी का यह लेख खतम होता है। 'आदिवासी खुद तय करेंगे कि धरती के नीचे मौजूद खनिज पदार्थों का उपयोग कैसे किया जाए' - यह सुझाव किशनजी ने 2001 में ही दिया था। नियमगिरि का यह इलाका कालाहांडी जिले में है और किशन पटनायक का बचपन इसी जिले में बीता था। वे पिछली सदी के अस्सी के दशक में बगल के बरगढ़ जिले में (जो उनका राजनैतिक कार्यक्षेत्र भी था) गंधमार्दन पर्वत में बाक्साईट खनन की बाल्को परियोजना के खिलाफ सफल प्रतिरोध से भी जुड़े। काशीपुर और नियमगिरि के संघर्ष के भी वे सहयोगी थे।

ओड़िया भाषा से अनुवाद लिंगराज ने किया है।



बिक्री लायक पदार्थों को 'पण्य' (माल) कहा जाता है और उनके संग्रह को 'संपत्ति'। आधुनिक समाज में संपत्ति को मूल्य (रुपयों) में आंका जाता है। मैं अगर करोड़पति हूँ तो मेरी संपत्ति का मूल्य करोड़ों रुपयों में है।

दुनिया में जितनी भी संपत्ति है, उनके मूल में हैं प्राकृतिक संसाधन। इसे प्राकृतिक संपदा कहा जाता है। मेहनत, बुद्धि और मशीनों के द्वारा प्राकृतिक संसाधनों से विभिन्न किस्म की पण्य वस्तुओं को बनाया जाता है। मशीनें भी खनिज धातु यानी प्राकृतिक संसाधनों से बनती हैं।

दुनिया में मौजूद प्राकृतिक संसाधन सीमित होने के कारण संपत्ति भी असीमित नहीं हो सकती। इसलिए किसी भी युग में संपत्ति सदा सीमित ही रहेगी। उसकी हमेशा बढ़ोतरी संभव नहीं, बल्कि हर पल उसका घटना अनिवार्य है। धरती के ऊपर और धरती के गर्भ में छिपी खनिज संपदा एक न एक दिन संपूर्ण रूप से खतम हो जाएगी। सबसे पहले पेट्रोल और कोयले की बारी आएगी।

उपरोक्त सच्चाई को ठीक से समझना जरूरी है। पूंजीवादी शास्त्रों और प्रचार माध्यमों ने लोगों के दिमाग

में गलतफहमी पैदा कर दी है कि दुनिया में संपत्ति असीम है और कभी नहीं खतम होने वाली है। अमीर मुल्कों और अमीर तबकों के उपभोग और विलास को देखकर यही भ्रम पैदा होता है कि संपत्ति असीम है और बढ़ती जा रही है। बारीकी से देखने पर मालूम होता है कि हम जिसे संपत्ति की अभूतपूर्व वृद्धि कह रहे हैं, उसके पीछे एक भयानक सच छिपा है। इस वृद्धि के साथ दुनिया के मूल पदार्थों का तेजी से क्षय हो रहा है। इस बात को वैज्ञानिक भी कह रहे हैं कि पेट्रोल, कोयला जैसी कई किस्म की प्राकृतिक संपदा निकट भविष्य में खतम होने वाली है। इतना ही नहीं, हवा और पानी भी कम होंगे। मानव जीवन के अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है।

कुछ साल पहले जापान के क्योटो शहर में इस संकट पर चर्चा के लिए एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया था। विभिन्न देशों के सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रतिनिधियों ने वहां इकट्ठे होकर एक समझौते का मजमून तैयार किया था जिसे 'क्योटो प्रोटोकाल' का नाम दिया गया था। इसमें पर्यावरण यानी प्रकृति को नष्ट न करने संबंधी नियम बनाए गए थे और हर देश अपने-अपने कानून बनाकर उनका पालन करे, ऐसा आह्वान किया गया था। क्योंकि इन नियमों का पालन करने से आधुनिक समृद्धि का ढांचा ढहने लगेगा। 28 मार्च 2001 को संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति चुनने के बाद जॉर्ज बुश ने ऐलान किया कि अमरीका क्योटो समझौते को नहीं मानेगा। अमरीका में संपत्ति की जो तीव्र वृद्धि दर है और वहां की जनता का जो ऊंचा जीवन स्तर है, उसमें व्यवधान वे नहीं चाहते।

इस बात से यह स्पष्ट होता है कि अगर प्रकृति और पर्यावरण की सुरक्षा करना है तो धन-संपत्ति वृद्धि की गति को कम करना होगा। जॉर्ज बुश की सरकार के प्रमुख मंत्रीगण अमरीका के बड़े पूंजीपति हैं। वे बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मालिक परिवारों के सदस्य हैं। दुनिया के विभिन्न देशों में उनके कल-कारखाने तथा खनिज कारोबार हैं, जिससे प्राकृतिक संपदा का विनाश हो रहा है।

प्राकृतिक संसाधनों से संपत्ति सृजन के दो तरीके हैं। प्रकृति हर पल नया जीवन और नई संपदा का सृजन कर रही है। उसका इस्तेमाल अगर समुचित व कम मात्रा में होगा तो उससे मनुष्य का काम भी चलेगा और प्रकृति भी बची रहेगी। इसे सम्यक या टिकाऊ विकास (सस्टेनेबल डेवलपमेंट) कहा जाएगा। लेकिन आधुनिक विकास पद्धति

से एक ही समय में बड़ी मात्रा में संपत्ति पैदा करने के लालच के चलते बड़े पैमाने पर प्रकृति का विनाश किया जाता है। इस विनाश की भरपाई संभव नहीं होती और उस संपदा का मूल भंडार घटता जाता है। मिट्टी, पानी, हवा, सब कुछ प्रदूषित होते हैं। यह एक कटु सत्य है कि साफ पानी और साफ हवा की मात्रा भी घट रही है। जंगल, वन्य प्राणियों और जलचरों पर भी भारी संकट है। पशुओं, पक्षियों व कीट-पतंगों की कई प्रजातियों का पृथ्वी से लोप हो चुका है।

संपत्ति की ऐसी अंधाधुंध वृद्धि अच्छा मानवीय लक्ष्य कतई नहीं हो सकता। जिस प्रक्रिया से दुनिया में मानव जीवन खतरे में है तथा पृथ्वी नामक ग्रह की अकाल मौत हो सकती है, उस विकास पद्धति को कैसे आम जनता और देशों के हित में कहा जाएगा? इस सवाल का सही जवाब ढूंढना होगा। मौजूदा पद्धति के चलते हर मुल्क में एक बहुत ही अमीर वर्ग और एक मध्यम वर्ग पैदा हो रहा है। इन वर्गों द्वारा भोग के नंगे नाच से समाज में भ्रष्टाचार, व्यभिचार और विषमता बढ़ रहे हैं तथा बहुसंख्यक जनता गरीबी और असुरक्षा का जीवन जी रही है। अमीर लोगों का लालच और अभावबोध सीमाहीन होने के कारण उनका मानसिक कंगालपन भी बढ़ रहा है।

यह एक शोध का विषय है कि इस तरह की धनवृद्धि के चलते राष्ट्रों या सरकारों की नहीं, बल्कि एक अमीर तबके की आमदनी और खर्च बढ़ रहे हैं। दुनिया के जितने भी विकासशील देश हैं उनमें से अधिकांश की सरकारों के पास शासन चलाने लायक धन नहीं है। भारत के अधिकांश प्रांतों की सरकारें दिवालिया हो रही हैं।

यह कैसी धनवृद्धि है? कैसा विकास है? जिस धनवृद्धि से न राष्ट्र को, न आम जनता को लाभ पहुंचता हो, सिर्फ मुट्ठीभर लोगों का तबका धनकुबेर बनता जाता हो और धन की फिजूलखर्ची होती हो, ऐसी धनवृद्धि समाप्त होना चाहिए।

गत दस सालों में भारत जैसे मुल्कों में धनवृद्धि के लिए दो बातों का जोर-शोर से प्रचार किया गया। पहला, बाजार का भूमंडलीकरण कर दो, आयात-निर्यात को पूरी तरह खुला कर दो। हमारे देश के उत्पादक दुनिया के बाजार में अपना सामान बेचकर अमीर बन जाएंगे। शरद जोशी जैसे किसान नेता भी इस बात के प्रवक्ता बने और प्रचार करने लगे कि भारत के किसान विदेशों में गेहूं, चावल, मूंगफली, कपास आदि उपज बेचकर डालर

कमाएंगे। लेकिन इसका परिणाम उल्टा हुआ। निर्यात की तुलना में आयात ज्यादा हुआ। भारत के छोटे उद्योग प्रायः खतम हो गए। इस वक्त पंजाब से केरल तक, गुजरात से ओड़िशा तक हर प्रांत में किसानों में तबाही मची हुई है।

**दूसरा, कंप्यूटर और सूचना तकनालाजी के क्षेत्र में** भारत की सफलता को लेकर शुरु में काफी प्रचार हुआ। लेकिन अब खबर आ रही है कि भारत के कंप्यूटर विशेषज्ञ अमरीका से खदेड़े जा रहे हैं। अमरीका में उनकी मांग कम होगी तो भारत में उनको ज्यादा पैसा देकर रोजगार कैसे दिया जा सकेगा? यह बात साफ हो रही है कि भारत का पढ़ा-लिखा युवा वर्ग सिर्फ सूचना तकनालाजी के सहारे अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते।

ओड़िशा में प्रचुर मात्रा में खनिज संपदा मौजूद है। ओड़िशा की धनवृद्धि के लिए इसे सबसे बड़े साधन के रूप में मान लिया गया है। यह एक भ्रामक सोच है। खनिज संपदा से भरपूर इलाके कभी भी किसी देश के समृद्ध इलाके नहीं रहे हैं। अब तो उन इलाकों की हालत और खराब हो रही है। किसी भी खदान परियोजना का पहला कदम है विस्थापन। सैकड़ों सालों से जिस परिवेश और बसाहट में लोग अपना जीवन यापन कर रहे थे, वहां से हटाकर उनके समुचित पुनर्वास का एक भी सफल उदाहरण ओड़िशा में नहीं है। शायद कहीं नहीं है। खदान परियोजना का दूसरा पहलू होता है बाहरी देशी-विदेशी कंपनियों को संबंधित इलाका सौंप देना। वहां वे ही सरकार बन जाती हैं। ये कंपनियां स्थानीय लोगों की भलाई तो नहीं करती, पर्यावरण को नष्ट करने और हवा-पानी को प्रदूषित करने का काम करती हैं। स्थानीय लोगों को रोजगार देने की क्षमता ऐसी परियोजनाओं में नहीं के बराबर होती है। इन इलाकों में जो लोग खेती या जंगलों पर आश्रित रह जाते हैं, प्रदूषण के कारण उनका जीवन दूभर हो जाता है।

तब खदानों से किनकी धन-वृद्धि होगी? देशी-विदेशी कंपनियां, उनके दलाल व ठेकेदार तथा उनको गैरकानूनी व अनैतिक ढंग से मदद पहुंचाने वाले नेताओं-अफसरों-बुद्धिजीवियों के एक तबके की प्रचुर धनवृद्धि होगी। सरकार इससे लाभान्वित नहीं होगी। खनन की सुविधा के लिए उस इलाके में सड़क, रेलमार्ग, बिजली, टेलीफोन जैसी व्यवस्था राज्य व केंद्र सरकारों विदेशों से कर्ज लाकर करेंगी। कंपनियों को कई तरह के अनुदान भी दिए जाएंगे। बदले में

कंपनियों से जो रायल्टी और कर वसूले जाएंगे, उनकी मात्रा नगण्य होती है। केंद्र व राज्य सरकारें दोनों घाटे में रहते हैं, लेकिन एक छोटा अमीर तबका मालामाल हो जाता है। खदान आदिवासियों के लिए तो अभिशाप है। इसलिए इसका विकल्प ढूंढना होगा।

खदान इलाकों में दो तरह के काम किए जा सकते हैं। सामान्यतः खनिज संपदा जंगल-पहाड़ों में मौजूद होती है। पहाड़ों को खोदकर, प्रकृति को नष्ट कर, खनिज पदार्थों को निकाला जाता है। खदान परियोजना की यह एक अनिवार्य प्रक्रिया है। खनिज पदार्थों की धरती के ऊपर जंगल और जलस्रोत होते हैं। वहां खेती और जंगल पर आधारित एक टिकाऊ अर्थव्यवस्था खड़ी कर छोटे-छोटे उद्योगों का विकास किया जा सकता है। सभी खनिज इलाकों में झरने और छोटी नदियां होते हैं। छोटी जल-धारण योजनाओं को बनाकर बड़े इलाके को सिंचित किया जा सकता है। इस तरह की विकास पद्धति से ही आम जनता व सरकार दोनों लाभान्वित होंगे। जंगल विभाग व ठेकेदारों द्वारा नष्ट किए गए जंगल को भी पुनर्जीवित किया जा सकता है। स्वभाव से प्रकृति-प्रेमी और प्रकृति पर निर्भर आदिवासियों पर भरोसा करके जंगलों के प्रबंध की जिम्मेदारी उनको दी जा सकती है। बड़े बांधों के विकल्प के तौर पर छोटी-छोटी जल-योजनाओं को स्वीकारना होगा।

राजनैतिक और सामाजिक कार्यकर्ता तथा जनता की ओर रुझान रखने वाले बुद्धिजीवी इस विषय पर सोचें और एक स्पष्ट मत बनाएं। राज्य की आम जनता के लिए और विशेष तौर आदिवासियों के लिए, खदानें वरदान हैं या अभिशाप- यह तय करें। विकास और तेज औद्योगीकरण के नाम पर सरकार विभिन्न इलाकों में देशी-विदेशी कंपनियों की खदान परियोजनाओं को इजाजत दे रही हैं, उससे सरकार तथा आम जनता की धन-वृद्धि होगी- इस दावे की सच्चाई के संबंध में उनके पास कोई तथ्य और तथ्यगत प्रमाण नहीं हैं तो ऐसी खनन परियोजनाओं का खुला विरोध क्यों नहीं किया जाए?

सबसे पहले धरती की सतह और उसके ऊपर बसे लोगों का विकास किया जाए। उन तबकों का विकास और स्थानीय जंगल-जमीन पर उनका हक स्थापित हो जाने के बाद वे खुद तय करेंगे कि धरती के नीचे मौजूद खनिज पदार्थों का उपयोग कैसे किया जाए।

# लुढ़कता रूपया, डूबता भारत

सुनील

*रुपए के कमजोर होने का रिश्ता भारत के भुगतान संतुलन के संकट से है। भारत सरकार की उदारवादी नीतियों के चलते एक तरह से यह संकट आना ही था। इन नीतियों से उबरने के बजाय सरकार विदेशी पूंजी के जाल में गहरे फंसती जा रही है। ये नीतियां अस्थिरता और संकट पैदा कर रही हैं। साथ ही भारत को गैर बराबर विनिमय की लूट का शिकार भी बना रही हैं।*

रुपया लुढ़क रहा है। दुनिया के बाजार में भारत के रुपए की कीमत गिरती जा रही है। डालर महंगा हो रहा है, रुपया सस्ता हो रहा है। दो साल पहले एक डालर 45 रुपए का था, अब 60 से ऊपर हो चला है। यानी इन दो सालों में रुपए की विनिमय दर में एक तिहाई गिरावट आई है। केवल सवा महीने में इसने 10 फीसदी मूल्य खोया है। जिस भारत को दुनिया की उभरती हुई आर्थिक महाशक्ति बताया जा रहा है, उसकी मुद्रा की कोई वकत नहीं है।

इसके नतीजे दिखाई दे रहे हैं। पेट्रोल, डीजल, रसोई गैस आदि महंगे होते जा रहे हैं। दूसरे आयात भी महंगे हो रहे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में महंगाई का एक और नया सिलसिला इससे बनेगा। एक तरफ से हम महंगाई आयात कर रहे हैं। निर्यातकों को छोड़कर बाकी सब आशंकित है। निर्यात उद्योगों में भी जो कच्चे माल के लिए आयातों पर निर्भर हैं, जैसे आभूषण उद्योग, उनके लिए भी संकट पैदा हो गया है। डालर महंगा होने का मतलब है कि हमें आयातों और विदेशी करजों का भुगतान अब ज्यादा (रुपयों में) करना पड़ेगा। भारत के विदेश व्यापार का घाटा और भुगतान संतुलन का संकट और बढ़ेगा। विदेशी मुद्रा के जिस विशाल भंडार को उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों की उपलब्धि बताया जा रहा था, वह खाली होने लगा है।

## घोषणा अमरीका में, संकट भारत में

रुपए के लुढ़कने का कारण संयुक्त राज्य अमरीका की एक घोषणा को बताया जा रहा है। वहां के फेडरल रिजर्व (भारतीय रिजर्व

बैंक जैसी अमरीकी संस्था) के अध्यक्ष ने 19 जून को घोषणा की थी कि 2007 की मंदी के वक्त से वहां सरकार द्वारा बांड आदि खरीदकर अर्थव्यवस्था में जो पैसा डाला जा रहा था, उसे धीरे-धीरे कम किया जाएगा। याने अब वह मौद्रिक प्रचुरता और सस्ते ब्याज की नीति को धीरे-धीरे छोड़ देगी। इस घोषणा से वहां ब्याज दरें बढ़ने लगी हैं। अमरीकी कंपनियां अभी तक वहां सस्ती दरों पर पैसा उठाकर भारत के शेयर बाजार, कर्ज बाजार और रियल एस्टेट (जमीन-जायदाद-भवन) बाजार में लगा रही थी। अब वे अपनी पूंजी वापस ले जाने लगी हैं। इससे डालर की मांग बढ़ रही है और रुपए की मांग कम हो रही है।

रुपए की गिरावट का यह एक तात्कालिक कारण हो सकता है। लेकिन सवाल यह उठता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था ऐसी हालत में क्यों पहुंच गई है कि अमरीकी सरकार की किसी घोषणा मात्र से रुपया लुढ़कने लगता है और हड़कंप मच जाता है? यह प्रसंग भारतीय अर्थव्यवस्था की गहरी कमजोरियों की ओर इंगित करता है और एक बार फिर वैश्वीकरण की उन नीतियों के खतरे बताता है जिन पर हमारी सरकारें पिछले दो दशक से चल रही हैं।

रुपए की गिरावट की यदि इतनी ही व्याख्या है तो यह दो कारणों से नाकाफी है। एक तो केवल डालर ही नहीं, यूरो, पौंड, येन जैसी मुद्राओं की तुलना में भी रुपया गिर रहा है। दूसरी बात है कि रुपए का मूल्य अगस्त 2011 से ही गिर रहा है, जबकि इस अवधि में अमरीका मौद्रिक प्रचुरता की नीति पर चल रहा था। दरअसल रुपए की गिरावट का

फोन:

09425040452

sjsunil@gmail.com

असली संबंध भारत के भुगतान संतुलन के संकट से है। काफी समय से भारत सरकार अपने चालू खाते (और विदेश व्यापार)के घाटे को विदेशी करजे तथा विदेशी पूंजी से पूरा करने की नीति पर चल रही थी। इस नीति की बुनियादी गड़बड़ियों के कारण आज भारत इस मुकाम पर पहुंचा है। (भुगतान संतुलन को समझने के लिए देखे बॉक्स-1)

## घाटे का विदेश व्यापार

पहली बात तो यह नोट की जानी चाहिए कि भारत का विदेश व्यापार हमेशा घाटे में रहा है और हाल के बरसों में यह घाटा विकराल रूप धारण करने लगा है। 1993-94 में भारत का विदेश व्यापार घाटा 106.8 करोड़ डालर था जो 2012-13 में बढ़कर 19091.7 करोड़ डालर हो गया, यानी विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बनने के बाद भारत के विदेश व्यापार घाटे में 178 गुने से ज्यादा वृद्धि हुई (आर्थिक समीक्षा 2012-13 एवं इकॉनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 13 जुलाई 2013)। निर्यातों को बढ़ाने पर खूब जोर देने के बावजूद निर्यात कम बढ़े हैं और आयात ज्यादा बढ़े हैं। इस हालत के लिए पेट्रोल-डीजल और सोने-चांदी के आयात-बिल को प्रमुख रूप

से जिम्मेवार बताया जा रहा है। यह सही है। लेकिन सच यह भी है कि इन दोनों आयातों को कम करने या इनका विकल्प खोजने की कोई गंभीर कोशिश सरकार ने पिछली अवधि में नहीं की है। उलटे वाहन उद्योग को खूब बढ़ावा दिया है, उसे अनुदान भी दिए हैं, जिससे डीजल-पेट्रोल की खपत तेजी से बढ़ी है। इसी तरह 1991 के बाद से सरकार ने उदारीकरण और मुक्त व्यापार की नीति के तहत सोने के आयात पर पाबंदियां व आयात शुल्क करीब-करीब हटा दिए थे। उदारीकरण के दौर में भारत में सोने का आयात 200 टन से 500 टन पर पहुंच गया। बहुत बाद में जाकर सरकार को होश आया और उसने सोने पर आयात शुल्क बढ़ाया।

विश्व व्यापार संगठन की नई व्यवस्था और मुक्त व्यापार की विचारधारा के तहत भारत सरकार दूसरे आयातों पर भी प्रतिबंध व शुल्क हटाती गई। निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार ने विदेशी कंपनियों को बुलाया और कच्चे माल के आयात को उदार बनाया। यानी हमारे निर्यातों में भी आयातों का अंश होता है। (जैसे आभूषण उद्योग जो सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात व कीमती पत्थर आयात करता है)। नतीजा यह हुआ कि निर्यात बढ़ाने के चक्कर में उलटे आयात बढ़े और बाहर जाने वाले विदेशी कंपनियों

### बॉक्स - 1

#### भुगतान संतुलन क्या है

एक देश के भुगतान संतुलन का मतलब है एक साल के अंदर समस्त विदेशी लेनदेन में (विदेशी मुद्रा के) भुगतान और प्राप्तियों का संतुलन। इसे दो हिस्सों में बांटा जाता है- चालू खाता और पूंजी खाता। **चालू खाते** में आते हैं विदेश व्यापार (आयात-निर्यात), पर्यटन आय, विदेशों में बसे भारतीयों द्वारा भेजी गई धनराशि, विदेशी कंपनियों को मुनाफा, ब्याज एवं रायल्टी का भुगतान। यानी वे लेनदेन जो एक बार में खतम हो जाते हैं और जिनके कारण भविष्य के विदेशी लेनदेन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला है। **पूंजी खाते** में आते हैं विदेशों से करजा और विदेशी पूंजी का आना-जाना। करजे को भविष्य में वापस करना होता है, विदेशी पूंजी वापस जा सकती है और इनके कारण बाद में ब्याज या मुनाफे का भुगतान भी करना पड़ता है। इस मायने में ये चालू खाते से अलग होते हैं कि इनका असर आने वाले सालों के भुगतान संतुलन पर होता है।

एक खाते का घाटा दूसरे की बचत से पूरा हो सकता है। दोनों को मिलाकर बचत होती है तो देश का विदेशी मुद्रा भंडार बढ़ता है और घाटा होता है तो विदेशी मुद्रा भंडार घटता है।

इसे एक समीकरण में ऐसे पेश किया जा सकता है-

$$\begin{aligned}
 \text{भुगतान संतुलन} &= \text{चालू खाता} + \text{पूंजी खाता} \\
 &= (\text{निर्यात- आयात} + \text{पर्यटन आय} + \text{विदेशों से भारतीयों द्वारा भेजी राशि} \\
 &\quad - \text{विदेशी कंपनियों का मुनाफा, ब्याज, रायल्टी}) + (\text{विदेशी करजा लेनदेन} + \\
 &\quad \text{विदेशी प्रत्यक्ष निवेश} + \text{पोर्टफोलियो निवेश}) \\
 &= \text{विदेशी मुद्रा भंडार में वृद्धि / कमी}
 \end{aligned}$$

के मुनाफे बढ़े। कुल मिलाकर भुगतान संतुलन के नजरिए से नुकसान ही हुआ।

## उधार की खुशफहमी

विदेश व्यापार के विशाल घाटे के कारण भुगतान संतुलन के चालू खाते का घाटा भी लगातार बढ़ता गया। अब यह भारत की राष्ट्रीय आय के 4.8 फीसदी के आसपास हो चला है जो कि एक खतरनाक और चिंताजनक स्थिति है। काफी समय तक भारत सरकार चालू खाते के घाटे के प्रति बेपरवाह बनी रही, क्योंकि पूंजी खाते के अधिशेष (सरप्लस या बचत) से इसकी पूर्ति होती रही। सरकार विदेशी करजों से और विदेशी पूंजी को बुलाकर घाटे का यह गड़ढा भरती रही। इतना ही नहीं, उनके कारण बढ़ते विदेशी मुद्रा भंडार को वह अपनी उपलब्धि बताती रही। अब विदेशी पूंजी का प्रवाह कम होने लगा है और चालू खाते के बढ़ते घाटे को पूरा करने में वह नाकाफी दिखाई दे रहा है तो संकट आ गया है। एक तरह से यह संकट आना ही था। इन पंक्तियों के लेखक ने काफी पहले ही इस नीति के खतरों के बारे में चेतावनी दी थी। (देखें, सुनील, 'विदेशी मुद्रा का फूलता गुब्बारा: असलियत, खतरों और घोटाले', प्रकाशक-समाजवादी जन परिषद, वाराणसी, 2004)

दरअसल भारत सरकार में बैठे विशेषज्ञों, अर्थशास्त्रियों और नीति-निर्माताओं ने यह साधारण बुद्धि भी लगाने की जरूरत नहीं समझती कि उधार की आवक कोई कमाई नहीं है। उससे हमारी देनदारी बढ़ती ही है। विदेशी करजों को ब्याज सहित वापस भी करना होगा। भारत के शेयर बाजार, करजा बाजार या वायदा बाजारों में जो विदेशी पूंजी आ रही है, वह मुनाफा तो ले ही जाएगी, कभी भी वापस भी जा सकती है। इनसे आने वाले सालों में विदेशी मुद्रा में भुगतान बढ़ते जाएंगे। यही नहीं, इन पर निर्भरता खतरनाक है।

भारत के ऊपर विदेशी करजा लगातार बढ़ता जा रहा है। मार्च 2002 के अंत में यह 98.8 अरब डालर था जो मार्च 2013 के अंत में 390 अरब डालर के स्तर पर पहुंच गया था। यह कुल राष्ट्रीय आय के करीब 20

फीसदी पर पहुंच रहा है। भारत सरकार मानती है कि यह कोई चिंता की बात नहीं है। हो सकता है, लेकिन ज्यादा चिंताजनक है इसमें अल्पकालीन करजे का बढ़ता हिस्सा। अल्पकालीन करजों के वापसी की तारीख जल्दी-जल्दी आती है। यदि उनका नवीनीकरण न हो या उनकी जगह दूसरे अल्पकालीन करजे मिलना रुक जाए, तो वे भुगतान संतुलन का संकट खड़ा कर देते हैं। भारत के कुल विदेशी करजे में अल्पकालीन करजों का हिस्सा 2002 में 2.8 फीसदी था जो अब बढ़कर 25 फीसदी हो चला है। गौरतलब है कि 1991 के संकट के वक्त अल्पकालीन करजों का हिस्सा 10.2 फीसदी था (आर्थिक समीक्षा, 2010-11 एवं 2012-2013 तथा इकानॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 17 अगस्त 2013)।

## विदेशी पूंजी की बंधक सरकार

अल्पकालीन करजों जैसा ही खतरा विदेशों से आने वाले पोर्टफोलियो पूंजी निवेश से है। विदेशी पूंजी निवेश दो तरह का होता है- प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) और पोर्टफोलियो निवेश। पहला भारत के अंदर उद्योगों व अन्य कारोबारों में आता है। दूसरा शेयर बाजार, करज बाजार आदि में आता है। यह दूसरी पूंजी कभी भी अपने शेयर या अन्य परिसंपत्तियां बेंचकर बाहर

जा सकती है। पोर्टफोलियो निवेश लगातार घटता-बढ़ता रहता है, कभी ऋणात्मक भी हो जाता है (यानी जितनी पूंजी बाहर से आई, उससे ज्यादा चली गई, 2008-09 में ऐसा ही हुआ)। लेकिन कुल मिलाकर भारत के विदेशी निवेश में पोर्टफोलियो निवेश का हिस्सा आधे के करीब रहा है। भुगतान संतुलन के नजरिए से यह पूंजी सबसे ज्यादा जोखिम भरी है और भरोसे के लायक नहीं है। संकट के वक्त यह सबसे पहले भागती है तथा संकट को और बढ़ाती है। मिसाल के लिए जून महीने में ही पोर्टफोलियो निवेश देश में आने के बजाए 7.2 अरब डालर की पूंजी बाहर चली गई।

इस चंचल विदेशी पूंजी पर निर्भरता का नतीजा यह हुआ है भारत सरकार को हमेशा इसके मिजाज और



नखरों का ध्यान रखना पड़ता है। इसके हितों पर जरा भी आंच आने पर वह वापस जाने के संकेत देने लगती है, शेयर बाजार गिरने लगता है भुगतान संतुलन के बिगड़ने का खतरा बढ़ने लगता है और सरकार को झुकना पड़ता है। 'मारीशस मार्ग' से विदेशी कंपनियों द्वारा कर-चोरी इसका बढ़िया उदाहरण है, जिसकी जांच या रोकथाम की हिम्मत सरकार नहीं जुटा पाती है (देखें बॉक्स-2)। एक तरह से भारत सरकार सट्टेबाज विदेशी पूंजी की बंधक

बन गई है। देशहित के ऊपर विदेशी पूंजी का हित हो गया है।

मौजूदा संकट में विदेशी पूंजी निवेश और करज के इस दुष्चक्र से निकलने के बजाय भारत सरकार इसी में गहरे धंसती जा रही है। वह मान रही है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को बढ़ावा देना ही इसका समाधान है। लेकिन विदेशी कंपनियों की अपनी शर्तें हैं। वे मुनाफाखोरी, लूट और कर-चोरी की पूरी छूट चाहती हैं। एक के बाद

## बॉक्स - 2

### मारीशस मार्ग: चोरी और सीनाजोरी

यह विचित्र किंतु सत्य है। भारत में सबसे ज्यादा विदेशी पूंजी निवेश संयुक्त राज्य अमरीका, यूरोप या जापान से नहीं, अफ्रीका के हिंद महासागर के छोटे-से टापू देश मारीशस से हुआ है। इसका राज भारत और मारीशस के बीच दोहरा करारोपण निषेध समझौते में छिपा है। इस समझौते के मुताबिक इन देशों की कंपनियां एक देश में कर दे रही हैं, तो दूसरे देश में कर नहीं लगाया जाएगा। इसके कारण मारीशस की कंपनियां मारीशस में नाममात्र का कर देकर भारत में अपने मुनाफे पर 'पूंजी लाभ कर' देने से बच जाती हैं। दुनिया भर की कंपनियां मारीशस में केवल एक दफ्तर खोलकर, फरजी तरीके से मारीशस की बनकर, भारत में पूंजी लगा रही हैं और इस समझौते का बेजा फायदा उठाते हुए कर-चोरी कर रही हैं। जब-जब उनकी जांच करने की कोशिश की गई, उन्होंने अपनी पूंजी निकालने की धमकी दी और सरकार ने जांच बंद कर दी।

- वर्ष 2000 के प्रारंभ में आयकर विभाग के कुछ अफसरों ने मारीशस में पंजीकृत 24 कंपनियों को नोटिस जारी कर उनकी जांच शुरू की। मारीशस की कंपनियों ने पूंजी वापस ले जाने की धमकी दी और 13 अप्रैल 2000 को केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड ने एक परिपत्र जारी करके इस जांच पर रोक लगा दी। परिपत्र में कहा गया है कि यदि कोई कंपनी मारीशस में निवास का मारीशस सरकार का प्रमाण पेश करती है तो उसे पर्याप्त सबूत माना जाए और दोहरे करारोपण निषेध समझौते का लाभ दिया जाए।

भारत के सेवानिवृत्त मुख्य आयकर आयुक्त शिवकांत झा और आजादी बचाओ आंदोलन ने प्रशांत भूषण को वकील बनाकर इसे दिल्ली उच्च न्यायालय में चुनौती दी। मई 2002 में न्यायालय ने उनकी आपत्तियों को सही बताकर केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड के परिपत्र को रद्द कर दिया। लेकिन केन्द्र सरकार और मारीशस की कंपनियों ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील की और 7 अक्टूबर 2003 को उसने उच्च न्यायालय के फैसले को पलट दिया तथा उस परिपत्र की वैधता को बरकरार रखा। मारीशस में पंजीकृत कंपनियों के वकील अरुण जेटली थे।

- मार्च 2001 में केतन पारिख का विशाल शेयर घोटाला सामने आया जो हर्षद मेहता वाले घोटाले जैसा ही था। इसकी जांच करने वाली संयुक्त संसदीय समिति ने इस घोटाले में मारीशस मार्ग की बड़ी भूमिका पाई। केतन पारिख समूह की कई कंपनियां मारीशस में पंजीकृत थीं। समिति ने इस मार्ग पर तत्काल नियंत्रण लगाने की जरूरत बताई थी। लेकिन सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया।

- ताजा वाक्या इसी साल के बजट का है। वित्तमंत्री के बजट भाषण में एक वाक्य था कि इस तरह के समझौते का लाभ लेने के लिए (मारीशस का) निवास प्रमाणपत्र काफी नहीं होगा। तुरंत शेयर बाजार गिरने लगा। वित्तमंत्री चिदंबरम और वित्त सचिव ने तत्काल पत्रकार वार्ता बुलाकर सफाई दी कि मारीशस की कंपनियों को परेशान नहीं किया जाएगा और 2000 का परिपत्र अभी लागू है।

इस तरह भारत के इतिहास की सबसे बड़ी कर चोरी जारी है। अंदाज है कि करीब 70 हजार करोड़ रुपए से ज्यादा की कर चोरी इस मार्ग से हो चुकी है।

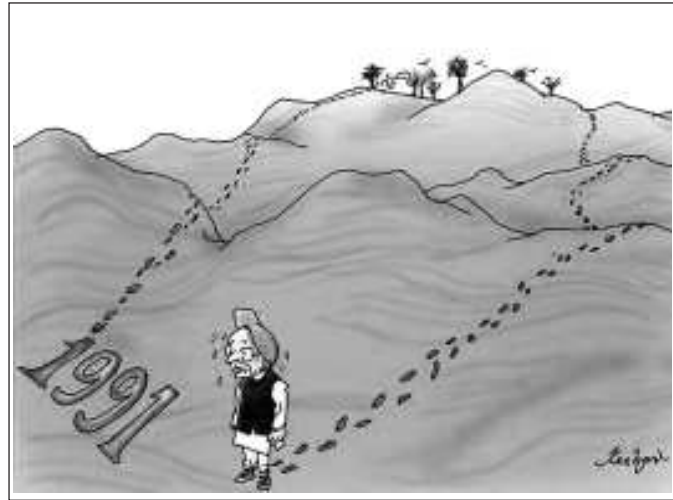
एक भारतीय अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र को विदेशी कंपनियों के लिए उत्तरोत्तर ज्यादा खोला जा रहा है, उनकी हर तरह की मांग पूरी की जा रही है। सबसे ताजा फैसला दूरसंचार, रक्षा, बीमा, वायदा बाजार, खुदरा व्यापार आदि में विदेशी हिस्सेदारी की सीमा बढ़ाने का है। भले ही प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में पोर्टफोलियो निवेश जैसी चंचलता व अस्थिरता नहीं है, लेकिन मुनाफों, रायल्टी आदि का भुगतान तो बढ़ता ही है। वापस जाने या पूंजी न लगाने की धमकियां वे भी दिखाती हैं और उनके पक्ष में महाशक्तियां दबाव भी डालती हैं। वोडाफोन कंपनी द्वारा 11,200 करोड़ रुपए का विशाल टैक्स न चुकाने के मामले में समझौता करने का भारत सरकार का ताजा फैसला मारीशस मार्ग जैसा ही बड़ा घोटाला है और शर्मनाक है। इसी तरह 2012 के बजट में घोषित कर-वंचन रोकने के नियमों (गार) को बाद में 2015 तक मुलतवी करने का फैसला भी विदेशी कंपनियों को खुश करने के लिए किया गया है।

## वापस 1991 की ओर

उदारीकरण, हस्तक्षेप न करने और मुक्त व्यापार की नीतियां इस संकट को बढ़ाने में खुलकर दोषी दिखाई देती हैं। पहले विदेशी मुद्रा के लेनदेन पर सरकार का नियंत्रण होता था और विनिमय दर भी सरकार तय करती थी। फिर इसे खतम करके चालू खाते में रुपया पूरी तरह परिवर्तनीय बना दिया गया और पूंजी खाते में भी काफी हद तक खुला कर दिया गया है। अब विनिमय दर पर सीधे नियंत्रण की जगह रिजर्व बैंक बाजार में विदेशी मुद्रा की खरीद-फरोख्त करके परोक्ष हस्तक्षेप तथा विदेशी मुद्रा भंडार को बढ़ाने की नीति पर चलता रहा। लेकिन 2009 से उसने यह नीति भी छोड़ दी और हस्तक्षेप न करने की नीति पर चलने लगा। हालत बिगड़ने पर अगस्त 2011 से उसे कुछ हस्तक्षेप करना पड़ रहा है।

रुपए की परिवर्तनीयता तथा दुनिया के मुद्रा बाजार में बढ़ती सट्टेबाजी और अस्थिरता के कारण भारत सहित दुनिया के देशों को विदेशी मुद्रा का विशाल भंडार रखना पड़ता है ताकि किसी भी संकट का मुकाबला कर सकें। यह एक तरह का बोझ है। 1991 में भारत का यह भंडार

खाली होने से ही संकट गहरा गया था। फिर यह भंडार काफी बढ़ा और 2008 तथा 2011 में यह 300 अरब डालर से ऊपर चला गया था, लेकिन उसके बाद लगातार घटता हुआ नीचे आ रहा है। मार्च 2013 के अंत में यह 292 अरब डालर रह गया था। 19 जुलाई 2013 को यह 280 अरब डालर था। यह पर्याप्त है या नहीं, यह देखने का एक तरीका है कि यह कितने महीने के आयातों को कवर करता है। 1991 के संकट के समय हमारा विदेशी मुद्रा भंडार मात्र 2.9 महीने के आयात के बराबर रह गया था। मार्च 2004 के अंत में यह 17.35 महीने के आयातों के बराबर के आरामदायक स्तर पर था। लेकिन मार्च 2013 के अंत तक यह घटकर 7.2 महीने के आयात के बराबर रह गया था (इकॉनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली,



साभार: द हिंदू

1 जून 2013)। गुब्बारे की हवा निकल रही है और हम वापस 1991 की ओर जा रहे हैं। निर्यात आधारित विकास, उदारीकरण और मुक्त बाजार की नीति न केवल भारत के आवाम की बेहतरी करने में असफल रही है, बल्कि अर्थव्यवस्था की अस्थिरता और संकटों को बढ़ाने वाली भी साबित हो रही है।

## डालर का साम्राज्य, विनिमय की लूट

अर्थशास्त्रियों का एक वर्ग रुपए की गिरावट का स्वागत कर रहा है। इनमें पूंजीवादी-मुक्तबाजारवादी अर्थशास्त्री तो हैं ही, भरत झुनझुनवाला जैसे लोग भी हैं जिन्होंने अखबारों में 'रुपए का गिरना जरूरी क्यों' शीर्षक से लेख लिखा है (प्रभात खबर, 16 जुलाई 2013)। इस

स्वागत के पीछे दो कारण बताए जाते हैं। पहला कारण है कि कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि चूंकि भारत में महंगाई की दर काफी है, इसलिए रुपए की क्रयशक्ति कम हो रही है और इसकी विनिमय दर गिरना स्वाभाविक है। एस एस तारापोर नामक एक विद्वान ने लिखा है कि सही विनिमय दर एक डालर के बराबर 70 रुपए की होनी चाहिए ( *फ्रीप्रेस जर्नल*, 8 अप्रैल 2013)।

इस मामले की जांच 'वास्तविक प्रभावी विनिमय दर' (आरइआर) की प्रवृत्ति मालूम करके की जा सकती है। इस दर में दोनों देशों की कीमतों की वृद्धि दर के फरक को गणना में लिया जाता है। इससे पता चलता है कि रुपए की वास्तविक प्रभावी विनिमय दर पहले कुछ बढ़ने के बाद 2011 से तो लगातार गिर रही है (सी पी चंद्रशेखर, *फ्रंटलाइन*, 26 जुलाई 2013)। यानी भारत और अमरीका की महंगाई दरों में जितना फरक है, उससे ज्यादा रुपए का मूल्य गिर रहा है।

फिर यदि महंगाई और क्रयशक्ति की तुलना करना ही है तो पांच-दस सालों की क्यों करें? और पहले क्यों न जाएं? जब देश आजाद हुआ था, तब एक डालर एक रुपए के बराबर था। 1952 में यह पौने पांच रुपए का, 1990 में साढ़े सतरह रुपए का, 2000 में पैंतालीस रुपए का और अब साठ रुपए का हो गया है। इस तरह आजादी मिलने के बाद के 66 सालों में डालर की तुलना में रुपए के मूल्य में 60 गुना गिरावट आई है। क्या इसकी व्याख्या केवल महंगाई दरों में फरक से हो सकती है?

क्रयशक्ति की ही बात करें तो हमें 'क्रयशक्ति समता' (पीपीपी) दरों को देखना चाहिए जिसकी गणना अब नियमित रूप से हो रही है। इसकी नवीनतम उपलब्ध गणना के हिसाब से डालर 60 रुपए का नहीं बल्कि 24 रुपए का होना चाहिए (देखें बॉक्स-3)। यानी क्रयशक्ति समता के हिसाब से डालर (रुपए में) जितना होना चाहिए, उससे ढाई गुना महंगा है। साफ है कि मौजूदा विनिमय दर में भारी गैरबराबरी और लूट नीहित है। इसके कारण अमरीका भारत के साथ अपने व्यापार में डालर के बदले कई गुना ज्यादा वस्तुएं हासिल कर लेता है और भारतीय माल का काफी कम मूल्य देता है। दूसरी ओर अपने माल की ज्यादा कीमत हासिल कर लेता है। व्यापार और पूंजी निवेश के जरिये उसकी क्रयशक्ति काफी बढ़ जाती है। यह व्यापार नहीं, लूट है।

यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि अंतरराष्ट्रीय विनिमय दरें क्रयशक्ति या महंगाई की दरों से तय होती हैं। उनके पीछे राजनैतिक, सामरिक और दूसरे आर्थिक कारण भी होते हैं। डालर मजबूत है क्योंकि दुनिया में संयुक्त राज्य अमरीका की रंगदारी चलती है। रुपया कमजोर है क्योंकि भारत दीन-हीन है। एक तरह से हम 'डालर साम्राज्यवाद' के तले जी रहे हैं।

### गुमराह करता शास्त्र

रुपए की गिरावट के समर्थन का दूसरा स्रोत भी इसी तरह की गलतफहमियों से जुड़ा है। अर्थशास्त्र के

## बॉक्स - 3

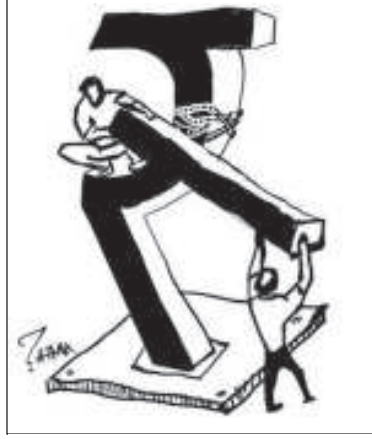
### क्रयशक्ति समता

इसे अंगरेजी में 'परचेजिंग पावर पेरिटी' या संक्षेप में 'पीपीपी' कहा जाता है। दो देशों की मुद्राओं या राष्ट्रीय आय की तुलना करने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाता है। इसके लिए वस्तुओं और सेवाओं का एक प्रातिनिधिक समूह लिया जाता है। यह देखा जाता है कि इन वस्तुओं और सेवाओं को अमरीका में खरीदने पर कितने डालर देने पड़ेंगे और भारत में खरीदने पर कितने रुपए देने पड़ेंगे। दोनों को बराबर करने पर जो विनिमय दर प्राप्त होगी, उसे क्रयशक्ति समता दर कहा जाता है।

आमतौर पर क्रयशक्ति समता विनिमय दर और प्रचलित विनिमय दर में काफी फरक होता है। इस वक्त रुपए व डालर की विनिमय दर क्रयशक्ति समता दर से ढाई गुनी कम है। अमरीका में 100 डालर में जितनी वस्तुएं-सेवाएं मिलेंगी, वे भारत में 2400 रुपए में मिल जाएंगी। इस हिसाब से एक डालर 24 रुपए का होना चाहिए। लेकिन वह है 60 रुपए का।

दुनिया के ज्यादातर गरीब व मध्यम श्रेणी के देशों की मुद्राओं की (डालर के साथ) विनिमय दर क्रयशक्ति समता दर से कम है, हालांकि भारत जितनी ख़ाई बहुत कम देशों के साथ है।

सिद्धांतों में मुद्रा के अवमूल्यन को अच्छा माना जाता है। यह माना जाता है कि मुद्रा का मूल्य गिरने से निर्यात सस्ते होंगे (60 रुपए की हमारी चीज पहले 1.33 डालर में बिकती थी, अब एक डालर में बिकेगी) और बढ़ेंगे। दूसरी तरफ आयात महंगे होंगे (एक डालर की विदेशी वस्तु पहले 45 रुपए में मिल रही थी, अब 60 रुपए में मिलेगी) तथा उनकी मांग कम होगी। इस तरह निर्यात बढ़ने और आयात कम



साभार: द हिंदू

होने से देश का विकास होगा और भुगतान संतुलन का संकट दूर हो जाएगा। विनिमय दर का एक नया संतुलन कायम हो जाएगा। कमजोर रुपया भारत के हित में है। भारत सरकार भी शायद काफी समय तक यही सोचकर रुपए के गिरने के प्रति लापरवाह थी कि इससे निर्यात बढ़ेंगे।

यदि यह सिद्धांत काम करता तो भी भारत देश और भारतीय अवाम के हित में नहीं होता क्योंकि सस्ता बेचने और महंगा खरीदने का मतलब भारत का बढ़ता हुआ शोषण ही होता। लेकिन विडंबना यह है कि भारत के मौजूदा संदर्भ में यह सिद्धांत भी काम नहीं करता है। कारण यह है कि हमारे सबसे बड़े आयात पेट्रोल और सोना-चांदी हैं जिनकी मांग बेलोचदार है यानी कीमतें बढ़ने से उनके उपभोग में विशेष कमी नहीं होती। भारत की नई व्यवस्था में आमदनी और धन का केन्द्रीकरण कुछ हाथों में हो रहा है और अमीर वर्ग के विलासितापूर्ण उपभोग (कारें, गहने आदि) में बढ़ोतरी हो रही है और कीमतें बढ़ने का विशेष फरक इस उपभोग पर नहीं पड़ता। दूसरी तरफ, यूरोप-अमरीका-जापान में मंदी का माहौल होने से सस्ते होने पर भी भारत के निर्यातों में विशेष बढ़ोतरी नहीं होने वाली है।

यदि आयातों की कीमतें बढ़ती हैं और मांग में विशेष कमी नहीं होती है, तो आयात बिल कम होने के बजाय बढ़ सकता है। इसी तरह निर्यात सस्ते होने के बावजूद उनकी मात्रा ज्यादा नहीं बढ़ती है तो निर्यातों से कुल आय बढ़ने के बजाय कम हो सकती है। इससे विदेश व्यापार का घाटा, और इसलिए भुगतान संतुलन का संकट, कम होने के बजाए और बढ़ेगा। भारत के

मामले में यही हो रहा है। कैसे अर्थशास्त्र के प्रचलित किताबी सिद्धांत दुनिया के गरीब देशों की स्थितियों को समझने में नाकाम हैं और गुमराह करने वाले बन जाते हैं, उसकी यह एक मिसाल है।

इस मामले में अक्सर चीन का उदाहरण दिया जाता है, जिसने अपनी मुद्रा की विनिमय दर कम रखकर अपना निर्यात काफी बढ़ाने और उसके जरिए ऊंची वृद्धि दर हासिल करने में सफलता पाई है।

लेकिन चीन के मामले में बात महज विनिमय दर की नहीं है। तीन बातें गौरतलब हैं। **एक**, चीन विश्व व्यापार संगठन का सदस्य काफी बाद में बना और उसके पहले उसने अपना औद्योगिक ढांचा खड़ा कर लिया था। **दो**, चीन ने बड़े पैमाने पर सेज बनाकर, मजदूरों का भारी शोषण करके, काम की दशाएं बहुत खराब रखकर, (आमदनी की और क्षेत्रीय) गैरबराबरी काफी बढ़ाकर तथा पर्यावरण के भारी नुकसान की कीमत पर, अपनी लागतें कम करने में सफलता पाई है। इसमें चीन की तानाशाही व्यवस्था की बड़ी भूमिका रही है। भारत में भी विस्थापन, मजदूरों का शोषण, गैरबराबरी और पर्यावरण क्षय काफी बढ़े हैं। लेकिन लोकातांत्रिक व्यवस्था होने के कारण इनकी गति व मात्रा चीन जैसी नहीं हो पाई और इसमें गतिरोध भी आते रहे। भारत का शासक वर्ग और कंपनियों के सरमायेदार इन्हीं रुकावटों को दूर करने के लिए बेचैन हैं और इसके लिए वे तानशाही प्रवृत्तियों (जैसे नरेन्द्र मोदी) को भी समर्थन दे सकते हैं। **तीसरी** बात यह है कि अमरीका-यूरोप के आर्थिक संकट के बाद चीन के निर्यात भी प्रभावित हुए हैं। चीन भी अब संकट में फंस गया है और इससे निकलने की राह खोज रहा है।

कुल मिलाकर, यदि हम भारत का हित चाहते हैं तो न केवल रुपए को गिरने से रोकना चाहिए, बल्कि इस दुष्चक्र और गैरबराबर विनियम की व्यवस्था से बाहर निकलना चाहिए। दुनिया की मौजूदा व्यवस्था और भारत सरकार की मौजूदा नीतियां नए-नए संकट पैदा कर रही हैं और वे घोर शोषणकारी व अन्यायपूर्ण भी हैं। इनसे मुक्ति पाना होगा।

# ब्राजील का फुटबाल आंदोलन

रामफजल

वह अजीब नजारा था। ब्राजील की फुटबाल दीवानी जनता अपनी टीम के जीतने पर खुश होने के बजाय लाखों की तादाद में सड़कों पर विरोध प्रदर्शन कर रही थी। महान फुटबाल हस्ती पेले की अपील भी बेअसर रही। अखिर माजरा क्या था? भारत में तो राष्ट्रमंडल खेलों के विरोध में विद्यार्थी युवजन सभा, समाजवादी जन परिषद या कुछ अन्य संगठनों को छोड़कर कोई बड़ा जन-विरोध नहीं हुआ। फिर ब्राजील क्यों बिफरा?

खेलों के महा-आयोजनों, खेलों के बदलते चरित्र और पूंजी व राजनीति के साथ उनके रिश्तों की पड़ताल करता एक लेख। खेलों पर पैनी नजर रखने वाली कलम से।

“छात्रों को राजनीति से अलग रहना चाहिए और इसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए”, जैसी ही तोता रटंत है- “खेलों को राजनीति से अलग रखना और देखना चाहिए।” यह तोता रटंत राजीव शुक्ल और अरुण जेटली जैसे राजनीतिबाजों को खेलों में दखल देने से नहीं बरजती, नरेन्द्र मोदी को गुजरात क्रिकेट एसोसिएशन का अध्यक्ष बनने से नहीं रोकती, लेकिन खेलों के क्षेत्र में बाजार, कारपोरेट-अनाचार, किस्म-किस्म के भ्रष्टाचार और मंत्रियों, अफसरों व खेल संगठनों के अधिकारियों के स्वेच्छाचार को खुलकर खेलने का निमंत्रण देती है।

इस निमंत्रण का फायदा उठाकर और खेलों की ‘मेगा इवेंटों’ (महाकुंभ या वृहत आयोजनों) को राष्ट्र की प्रतिष्ठा के सवाल के रूप में पेश कर क्या-क्या पाप नहीं किए जाते! 1982 के एशियाई खेलों, 2010 के राष्ट्रमंडल खेलों और 2013 के इंडियन प्रीमियर लीग के मैचों में वह सब कुछ हुआ, जो किसी भी ऐसे देश में नहीं हो सकना चाहिए था, जहां लोग राजनीतिक रूप से सजग हों और जहां किसी न किसी रूप में लोकतंत्र बचा हो। ऐसे में ब्राजील में हाल में 2014 के विश्वकप फुटबाल और 2016 के ओलंपिक खेलों के ‘महाकुंभ’ या ‘वृहत आयोजन’ के विरोध में लगातार प्रदर्शनों का खयाल आए बिना नहीं रहता। इन प्रदर्शनों के फलस्वरूप ब्राजील की राष्ट्रपति डिलमा रोउसेफ को जनमत संग्रह करवाने की घोषणा करनी पड़ी है, जिससे अब ब्राजील में 2014 में विश्वकप फुटबाल और 2016 में ओलंपिक खेलों का होना संदिग्ध भी बन गया है।

‘महाकुंभ’ या ‘वृहत आयोजन’ अंगरेजी ‘मेगा इवेंट’ का हिन्दी उल्था है। यह हिंदी का सौभाग्य ही मानना चाहिए कि वह अब तक पूंजीवादी विज्ञापनी भाषा के शब्दों के सटीक प्रति शब्द नहीं गढ़ पाई है। ‘मेगा इवेंट’ में मुनाफाखोरी, प्रबंधन, झांसे और सेक्स के घोल की जो अंतर्ध्वनियां रहती हैं, वे ‘महाकुंभ’ और ‘वृहत आयोजन’ में नहीं आ सकतीं। शब्द-चर्चा के इस विषयांतर के लिए पाठक क्षमा करेंगे लेकिन हम यह कहना चाहते हैं कि जिस तरह छुट्टे सांड की तरह जान-माल को नष्ट करने वाली व्यवस्था को जब अंगरेजी से अनुवाद उदार और मुक्त अर्थव्यवस्था कहा जाता है तो उससे किसी कल्याणकारी व्यवस्था का भ्रम पैदा होता है, उसी तरह का कुछ भ्रम मेगा इवेंट को महाकुंभ या वृहत आयोजन कहने पर भी हो सकता है।

विश्वकप, ओलंपिक खेलों और आईपीएल जैसी मेगा इवेंटों का उद्देश्य यदि भारत जैसे लोकतांत्रिक देशों में पूंजीवाद के सांगोपांग विस्थापन उद्योग, पर्यटन उद्योग, अपराध उद्योग और सेक्स को मुनाफे और लूट में उनका हिस्सा दिलाना होता है तो कम्युनिस्ट देशों में दास-श्रम और विस्थापन के नृशंस तरीके अपना कर दुनिया में अपनी ताकत की धौंस जमाना होता है।

2008 चीन के बीजिंग ओलंपिक दुनिया में अब तक की सबसे अधिक खरचीली मेगा इवेंट थी, जिस पर प्रायः 40 अरब डालर (2 लाख 40 हजार करोड़ रु.) स्वाहा हुए। बीजिंग ओलंपिक के स्टेडियमों की, उनके अभिनव स्थापत्य के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है- ‘क्या कमाल कर दिखाया है चीन ने!’ यह

बात दीगर है कि स्टेडियमों के निर्माण पर जो बेहताशा खर्च किया गया था वह गले का ढोल बन गया है। कम्युनिस्ट सरकार को इसकी फिक्र भी नहीं है। उसने तो बेहताशा खर्च कर और दास श्रम को काम में लाकर दुनिया को जतलाने का अपना फर्ज अदा कर दिया है कि वह किसी से भी कम नहीं, बल्कि सबसे बढ़-चढ़ कर है।

1

## फुटबाल दीवाना ब्राजील क्यों बिफरा

ब्राजील लौटें। इस 3 जुलाई 2013 को *टाइम्स ऑफ इंडिया* में प्रसिद्ध लेखक इआन बुरुमा का एक लेख छपा है 'फुटबाल पर ब्राजील का प्रचंड क्रोध'। अभी बुरुमा न्यूयार्क के बार्ड कॉलेज में लोकतंत्र, मानव अधिकार और पत्रकारिता के प्रोफेसर हैं। कुछ लोग उन्हें दुनिया के



सबसे ज्यादा प्रखर एक सौ विचारकों में एक मानते हैं। उनके लेख के पहले पैराग्राफ में कहा गया है "किसने यह सोचा होगा कि ब्राजीलवासी फुटबाल स्टेडियमों के बाहर उनके देश द्वारा 2014 में विश्वकप फुटबाल के आयोजन का विरोध करेंगे और वह भी ऐसे वक्त पर जब कानफेडरेशन कप (अंतरराष्ट्रीय फुटबाल संघ 'फीफा' द्वारा विश्वकप के रिहर्सल के रूप में आयोजित की जाने वाली 8 देशों की फुटबाल चैंपियनशिप) के फाइनल में उनका देश विगत विश्व कप विजेता देश स्पेन को (3-0से) पछाड़ रहा था। यह तो कुछ ऐसा था मानो कैथोलिक लोग वैटिकन (रोम में कैथोलिक चर्च का सदर मुकाम

और पोप का निवास-स्थान) के बाहर नए पोप के चयन का विरोध कर रहे हों।"

ब्राजील के प्राण फुटबाल में बसते हैं। भारत को क्रिकेट प्रेमी देश कहा जा सकता है और वह है भी, लेकिन कोई यह नहीं कह सकता है कि उसके प्राण क्रिकेट में बसते हैं। भारत का क्रिकेट से जो रिश्ता है, उससे ब्राजील के फुटबाल से रिश्ते की तुलना नहीं की जा सकती। फुटबाल ब्राजील की पहचान है। ब्राजील में शिशु पालने से बाहर आते ही फुटबाल पर लात (किक) लगाता है। करोड़ों बच्चे और बालक ब्राजील के शहरों, कस्बों और गांवों में नंगे पैर फुटबाल खेलते दिखते हैं। बूट तो उन्हें बड़े होने और खेल में महारत प्राप्त कर लेने के बाद ही पहनाए जाते हैं। ब्राजील के निम्न स्तर के खिलाड़ियों को भारत के धनी क्लब लाखों रुपयों के मेहनताने पर अपनी टीमों में शामिल कर स्वयं को गौरवान्वित समझते हैं। तो ऐसी है ब्राजील की फुटबाल महिमा!

ब्राजील की यह फुटबाल महिमा अपरंपार है। दुनिया का फुटबाल का सबसे महान खिलाड़ी पेले ब्राजील का ही है। कानफेडरेशन कप के मैचों के दौरान ब्राजील के शहरों, कस्बों और गांवों में विरोध करने वाले प्रदर्शनकारियों से पेले ने अपील की थी कि वे विरोध कर हंगामा न करें और राष्ट्रीय फुटबाल टीम का हौंसला बढ़ाएं, 'वे यह याद रखें कि राष्ट्रीय टीम हमारा देश है,

हमारा खून है।' पेले की इस अपील के जवाब में ब्राजील के जन संगठनों ने उनसे कहा 'जरा, अस्पतालों में जाइए, बसों में बिना किसी सुरक्षा के यात्रा कीजिए और तब हम यह देखना चाहेंगे कि आप इस तरह की मूर्खतापूर्ण बातें करते रह सकते हैं कि नहीं।' प्रसिद्ध भारतीय खेल पत्रकार शारदा उग्र लिखती हैं 'यह तो कुछ ऐसी बात हुई कि भारत के लोग सचिन तेंदुलकर को खरी खोटी सुनाएं और उनका तिरस्कार करें।' (*इकॉनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 20 जुलाई 2013) सचिन तेंदुलकर अपनी तमाम शोहरत के बावजूद भारतीयों के मन में उस तरह नहीं बसे हैं जिस तरह पेले ब्राजीलवासियों के मन में। कांग्रेसी

चमचे कितना ही शोर क्यों न मचाएं, इंदिरा खानदान कभी भारत नहीं था पर निश्चय ही मई 2013 तक ब्राजील और पेटे एकाकार थे।

## शिक्षा-सेहत-रोजगार चाहिए, विश्वकप नहीं

जून 2013 का महीना ब्राजील के इतिहास में सैकड़ों की तादाद में हुए शांतिपूर्ण प्रदर्शनों के लिए याद किया जाएगा। शारदा उग्र आगे लिखती हैं “जून के प्रदर्शनों ने यह साबित कर दिखाया है कि ब्राजीलवासियों ने अपने प्रियतम खेल फुटबाल को शिक्षा, नौकरियों, स्वास्थ्य सेवाओं, सुरक्षा के पीछे उसके उचित स्थान पर बिठाया है, आखिर जीवन में शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएं, नौकरियां और सुरक्षा परम आवश्यक हैं।” इआन बुरुमा कुछ दूसरी तरह लगभग यही बात कहते हैं। एक 19 वर्षीय ब्राजीलवासी तरुण के कथन, ‘हमें विश्वकप की जरूरत नहीं, हमें शिक्षा, बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं और ज्यादा सहृदय और मानवीय आचरण करने वाली पुलिस की जरूरत है’

को उद्धृत करते हुए वे (बरुमा) पूछते हैं कि क्या ब्राजीलवासियों की फुटबाल के प्रति आसक्ति सहसा कम हो गई है? फिर स्वयं सवाल का जवाब देते हुए लिखते हैं, ‘नहीं, ब्राजीलवासियों की अपने प्रिय खेल फुटबाल के प्रति आसक्ति कम नहीं हुई है और ना ही उन्होंने

उसे भुला दिया है। उन्हें तो फुटबाल के उस रूप से वितृष्णा है, जो अरबों डालर का व्यापार बन गया है—प्रभावशाली धनी वर्ग की प्रतिष्ठा का एक साधन और भ्रष्ट अंतरराष्ट्रीय खेल संगठनों के अनाप-शनाप खर्च और तामझाम का एक दिखावटी खिलौना।’

ब्राजील में सार्वजनिक परिवहन के राष्ट्रीयकरण और किराया घटाने की मांग करते हुए 2003 में एक आंदोलन शुरु हुआ था। कालांतर में उसमें महंगाई को नियंत्रित करने, सरकार द्वारा जनकल्याणकारी कदम उठाने, स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार करने, भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने, अपराधों से ज्यादा सख्ती से निपटने आदि की ही नहीं, केंद्रीय सत्ता के विकेंद्रीकरण की मांग भी जुड़ती गई। 2007 में ब्राजील के

तत्कालीन खेल मंत्री ओरिया डी सिल्वा ने 2014 में ब्राजील में विश्वकप फुटबाल आयोजित करने का प्रस्ताव रखते हुए कहा था कि स्टेडियमों की मरम्मत पर ब्राजील को एक डालर भी खर्च नहीं करना पड़ेगा लेकिन अब विश्वकप पर 13 अरब डालर का खर्च बैठ रहा है।

ब्राजील की सैनिक तानाशाही की कैद में भारी यंत्रणाओं को झेलने वाली और युवावस्था में मार्क्सवादी गुरिल्ला योद्धा रहीं डिल्मा रोउसेफ 2011 में लूला के उत्तराधिकारी के रूप में ब्राजील की प्रथम महिला राष्ट्रपति निर्वाचित हुईं। उन्होंने 2014 में ब्राजील में विश्वकप और 2016 में ओलंपिक खेलों के आयोजन को मंजूरी दे दी। विश्वकप के आयोजन के पहले फीफा (अंतरराष्ट्रीय फुटबाल संघ) की यह शर्त होती है कि मेजबान देश विश्वकप के रिहर्सल के तौर पर एक वर्ष पहले कानफेडरेशन कप का आयोजन करे। इस शर्त के मुताबिक जून में ब्राजील में कानफेडरेशन कप के मैच शुरू हुए और लगभग इसी समय बसों के किराए में वृद्धि की गई।

*ब्राजीलवासियों की अपने प्रिय खेल फुटबाल के प्रति आसक्ति कम नहीं हुई है और ना ही उन्होंने उसे भुला दिया है। उन्हें तो फुटबाल के उस रूप से वितृष्णा है, जो अरबों डालर का व्यापार बन गया है—प्रभावशाली धनी वर्ग की प्रतिष्ठा का एक साधन और भ्रष्ट अंतरराष्ट्रीय खेल संगठनों के अनाप-शनाप खर्च और तामझाम का एक दिखावटी खिलौना।*

इसने ब्राजीलवासियों के रोष को और भड़का दिया। सरकार के विरोध में सड़कों पर उतर कर वे आंदोलन करने को बाध्य हुए। ब्राजील का शायद ही कोई शहर या कस्बा बचा हो, जहां कानफेडरेशन कप, विश्वकप और ओलंपिक खेलों के आयोजन और उन पर होने वाले खर्च के विरोध में

प्रदर्शन न हुए हों और जिनमें हजारों से लाखों तक लोगों ने भाग न लिया हो। 20 जून को तो प्रदर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर थे। ब्राजील के सभी शहर और खासतौर पर वे शहर जहां कानफेडरेशन कप के मैचों का आयोजन हुआ था, प्रदर्शनकारी ‘फीफा वापस जाओ’ के पोस्टर और बड़े-बड़े बैनर लिए अपना विरोध जता रहे थे। इस दिन 80 शहरों में प्रदर्शनकारियों की संख्या दस से बीस लाख तक थी। प्रदर्शनकारी शांतिपूर्ण ढंग से प्रदर्शन कर रहे थे। ब्राजील के सबसे व्यस्त बंदरगाह शहर सांटोस को जाने वाली सड़क पर यातायात अवरुद्ध कर उन्होंने पुलिस को परेशान कर डाला। राजधानी ब्रासीलिया में प्रदर्शनकारियों ने पुलिस की घेराबंदी के ऊपर फुटबाल की ऊंची किक

लगाकर ब्राजील की संसद को जाने वाली सड़क पर फुटबालों का ढेर लगा दिया।

शांतिपूर्ण प्रदर्शन के बावजूद पुलिस के अश्रुगैस छोड़ने, उससे जगह-जगह हुई झड़प की वारदातों में और सड़क अवरोधों से गाड़ियों के टकराने से 7-8 लोगों की मृत्यु होने का अनुमान है। हिंसा भड़क उठने की आशंका में बहुत से शहरों में मॉल बंद कर दिए गए, जिससे उन्हें 35 करोड़ डॉलर के नुकसान होने का अंदाजा लगाया जा रहा है।

## सरकार झुकी

कानफेडरेशन कप के उद्घाटन समारोह में राष्ट्रपति रोउसेफ को दर्शकों की टिटकारी झेलनी पड़ी और फाइनल में उन्होंने अनुपस्थित रहने में ही अपनी भलाई देखी। लेकिन 24 जून को उन्होंने ब्राजीलवासियों के बढ़ते असंतोष और रोष को शांत करने के लिए जनमत संग्रह करने और 17 अरब की लागत से एक नई सार्वजनिक परिवहन योजना आरंभ करने की घोषणा की।

जनमत संग्रह के मुद्दे अभी तय होने बाकी हैं पर उनके प्रदर्शनकारियों के काफी अनुकूल होने का अनुमान है। रोउसेफ ने कहा कि वे प्रदर्शनकारियों की मांगों का सम्मान करती हैं और उन्हें पूरा करने का वचन दे रही हैं। जनमत संग्रह करने के पहले वे प्रदर्शनकारियों के संगठकों से और उन शहरों के मेयरों और गवर्नरों से भी मिलीं, जहां सबसे अधिक उग्र प्रदर्शन हुए थे।

राष्ट्रपति ने कहा कि वे जिन प्रस्तावित सुधारों की बात सोच रही हैं वे मुख्यतः पांच विषयों में होंगे:

**1. वित्तीय जिम्मेवारी :** आर्थिक स्थिरता की गारंटी दी जाएगी और महंगाई को रोका जाएगा।

**2. शिक्षा :** ब्राजील को पेट्रोल से जो रायल्टी मिलती है वह पूरी की पूरी यानी 100 प्रतिशत शिक्षा के क्षेत्र में खर्च की जाएगी।

**3. स्वास्थ्य :** सुदूरवर्ती और पिछड़े इलाकों में चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध करने के लिए विदेशी डाक्टर बुलाए जाएंगे।

**4. संविधान सभा :** एक संविधान सभा स्थापित की जाएगी, जो अंततः ब्राजील के संविधान में संशोधन

करेगी ताकि जो सुधार किए जाएं वे स्थायी हो और अमल में आएँ।

**5. सार्वजनिक परिवहन :** शहरी आवागमन की परियोजनाओं और सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था को सुधारने के लिए 25 अरब डॉलर से भी अधिक निवेश किया जाएगा।

प्रदर्शनकारियों के एक नेता मायारा लोंगो विवियन ने कहा कि राष्ट्रपति के प्रस्तावों में ठोस कदमों का जिक्र है, लेकिन हमारा संघर्ष जारी रहेगा। संघर्ष के जारी रहने का एक प्रमाण 22 जुलाई को पोप फ्रांसिस के ब्राजील आगमन के अवसर पर मिला भी। पोप फ्रांसिस उत्तर और दक्षिण दोनों अमरीकाओं में पोप के पद चुने गए पहले व्यक्ति हैं। वे अर्जन्तीना के निवासी हैं। पोप का पदभार ग्रहण करने के बाद वे अपनी पहली विदेश यात्रा पर 22 जुलाई को ब्राजील पहुंचे तो उनका काफी जोरदार स्वागत हुआ। लेकिन कुछ देर बाद ही सड़कों पर उग्र प्रदर्शन शुरू हो गए। प्रदर्शनकारी

पोप की एक सप्ताह की यात्रा पर सार्वजनिक कोष से 5 करोड़ 3 लाख डॉलर खर्च किए जाने का विरोध कर रहे थे। रियो डी जेनेरो में गवर्नर निवास में पोप और राष्ट्रपति की मुलाकात हुई, तब प्रदर्शनकारी आग पैदा करने वाले बम (फायर बम) फेंक

रहे थे। पुलिस ने तितर-बितर करने के लिए आंसू गैस व पानी की तेज धार छोड़नेवाली मशीनों का प्रयोग किया और फिर लोगों को घायल किए बिना भारी शोर से किंकर्तव्यविमूढ़ कर देने वाले छोटे हथगोले (स्टन ग्रेनेड) फेंके। ब्राजील दुनिया की सबसे अधिक रोमन कैथोलिक आबादी वाला देश है। उसमें रोमन कैथोलिक चर्च के सर्वोच्च पदाधिकारी का इस आधार पर विरोध किया जाना कि उसकी यात्रा पर सार्वजनिक कोष से 5 करोड़ 3 लाख डॉलर खर्च किए जा रहे हैं अकल्पनीय लगता है। लेकिन ब्राजीलवासी अनावश्यक चीजों पर फिजूलखर्ची आजिज आ गए हैं और अब यह उनके बरदाश्त के बाहर की बात हो चली है। पोप की यात्रा पर खर्च का विरोध राष्ट्रपति रोउसेफ को चेतावनी है कि यदि वे अपने वादों से मुकरीं तो उनकी खैर नहीं।

लातीनी अमरीकी समाजशास्त्री फेबियो मालिनी का कहना है कि ब्राजीलवासी फुटबाल और राजनीति का



इस प्रकार मिश्रण कर रहे हैं कि वे लोग भी मुखर हो पा रहे हैं, जिनकी बात अनसुनी रह जाती थी। लातीनी अमरीका का जागरूक लेखक क्या सोचता है, इसका पता वार्ता के ही मई अंक में छपा उरुग्वे के लेखक एदुआर्दो गालेआनो का आसाधारण लेख 'शब्द एक शस्त्र' हमें बताता है। गालेआनो का कहना है 'व्यवस्था का सबसे पसंदीदा तरीका ऐसा माहौल बना देता है, जिसमें कोई कुछ सोच ही नहीं सके।' मालिनी के आशावाद और गालेआनो के एक प्रकार के अवसाद के बीच जो एक पगडंडी मिलती है, वह हमें 'सोचने न देने' के माहौल में भी सोचने को प्रेरित करती है। अगर न करती होती तो गालेआनो कैसे अपना असाधारण लेख लिख पाते। ब्राजील में भ्रष्टाचार और अपराध का कितना ही बोलबाला क्यों न हो, राष्ट्रपति डिल्मा रोउसेफ को जनमत संग्रह का वचन तो देना पड़ा ही है और यह निराशा होने की बात नहीं है।

## 2

यहां हम इआन बुरुमा और शारदा उग्र के लेखों में मेगा इवेंटों के पीछे काम करने वाली ताकतों और उनके तरीकों तथा आधुनिक फुटबाल के बारे में लिखी मोटी-मोटी बातों का स्वच्छंद अनुवाद किए दे रहे हैं।

### खेलों का ग्लोबीकरण

**बुरुमा:** फुटबाल अब व्यापार की अन्य किस्मों की तरह मिल्लिक्यत के नये नियमों-कानूनों, केबल टीवी, विज्ञापन, बिजनेस से जुड़े अन्य कारकों के चलते ग्लोबल (वैश्विक) हो गया है। अब यह देशों से ज्यादा क्लबों के बीच का खेल हो गया है। शायद आज मैनचेस्टर युनाइटेड (इंग्लैंड का एक मशहूर फुटबाल क्लब) के दीवाने मैनचेस्टर शहर तो बहुत दूर की बात है, इंग्लैंड से कहीं ज्यादा चीन में मिलेंगे। (ये दीवाने समर्थक केवल बोलकर अपनी टीम का हौसला नहीं बढ़ाते। वे अपनी टीम की जर्सी तक पहनते हैं और उन 'हाय कुरबान जाऊं', 'आज याद दिला दे आरसेनल (इंग्लैंड का एक दूसरा फुटबाल क्लब) को छठी का दूध' जैसी इबारतों की तख्तियां टांगे रहते हैं और मैच के वक्त और उसके बाद प्रतिस्पर्धी टीम के समर्थकों को गरियाते रहते हैं और अकसर बीयर की तीन-चार बोतलें गटक लेने के बाद तोड़-फोड़ और मार-पीट पर उतारु हो जाते हैं। इनकी सबसे बड़ी खासियत यह होती है कि अपने देश से कहीं ज्यादा अपने क्लब से इनका लगाव होता है।) फुटबाल टीमों अब बहुराष्ट्रीय

फ्रेंचाइजें (इसका अनुवाद संभव नहीं हुआ) हो गई हैं और इनके प्रशिक्षक और खिलाड़ी किसी खास देश से नहीं, सारी दुनिया से आते हैं।

ओलंपिक खेलों को आयोजित करने में- स्टेडियम बनाने के ठेके देने, परिवहन व्यवस्था का निर्माण करने, होटलों का इंतजाम करने और लोगों को आकर्षित करने के अन्य व्यावसायिक तामझाम खड़ा करने में इतने अधिक पैसों की जरूरत पड़ती है कि घूसखोरी और कमीशन-खोरी की संस्कृति पैदा हुए बिना नहीं रह सकती।

ऐसे आयोजन (इवेंट) आधुनिक सरकारों के लिए चाहे वे तानाशाही वाली सरकारें हों या लोकतांत्रिक, बड़े-बड़े निर्माण कार्यों की परियोजनाओं- विशालकाय नए स्टेडियम, भीमकाय शापिंग मॉल, बड़े-बड़े सम्मेलनी (कांफ्रेंस) हॉल बनाने के कार्यों- को अपनी उपलब्धियां बताने, अपनी इज्जत बढ़ाने या अपनी वैधता को जताने का माध्यम बन जाते हैं।

इन सबका नतीजा यह होता है कि इमारतें बनानेवाले प्रमोटर्स, वास्तुकारों, धनपतियों और अंतरराष्ट्रीय खेल संगठनों के अधिकारियों की बन आती है और फुटबाल जैसे खेल पर उनका अधिकार हो जाता है। इस अधिकार के चलते उनकी ताकत, संपत्ति और प्रतिष्ठा बढ़ती है। ये अंतरराष्ट्रीय अधिकारी मेजबान देश के भारी खर्च पर अपना तमाशा दिखाने के बाद फूट लेते हैं। ऐसे देशों के लिए, जिनकी ज्यादातर आबादी गरीब है और जहां स्कूल और स्वास्थ्य व चिकित्सा की व्यवस्था नहीं है, मेगा इवेंट अंसतोष और रोष को ही जन्म दे सकते हैं।

### मेगा इवेंटों का नफा नुकसान

**शारदा उग्र:** अब तक विश्वकप और ओलंपिक खेलों का मेजबान देशों में विरोध सामान्यतया छोटे-छोटे समूहों, पर्यावरणवादियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा इस आधार पर किया जाता था कि इन पर होने वाले खर्च से कीमतें बढ़ेंगी और लोगों पर करों का बोझ बढ़ेगा। लेकिन ब्राजील में दुनिया ने देखा कि विश्वकप और ओलंपिक खेलों का विरोध बहुत बड़ पैमाने पर सभी वर्गों द्वारा एक अभूतपूर्व स्तर पर हुआ।

दुनिया के लिए इसका सबसे बड़ा लाभ यह हो सकता है कि मेगा इवेंट आयोजित न किए जाएं और बेहताशा खर्च के कारण उन्हें अपने 'नए घरों' यानी विकासशील देशों में ठौर न मिले।

यह संयोग नहीं है कि पिछले पांच सालों में ब्रिक्स समूह (ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका) के देशों ने खेल की मेगा इवेंटों की सबसे ज्यादा मेजबानी की है या मेजबान होने की बोली लगाई है:

1. ब्राजील 2014 में फुटबाल और 2016 में ओलंपिक खेलों की मेजबानी करेगा।

2. रूस 2014 में शीतकालीन ओलंपिक खेलों और 2018 में विश्वकप फुटबाल का मेजबान होगा।

3. चीन 2008 में ओलंपिक खेलों की मेजबानी कर चुका है।

4. दक्षिण अफ्रीका 2010 में विश्वकप फुटबाल की मेजबानी कर चुका है।

5. भारत 2010 में राष्ट्रमंडल खेलों के आयोजन के बाद 17 वर्ष से कम उम्र वाले लड़कों के फुटबाल विश्वकप की मेजबानी करने का इच्छुक है।

कोरिया, उजबेकिस्तान, आयरलैंड, कतर जैसे देश भी ऐसे आयोजनों के लिए आगे आ रहे हैं। दूसरी ओर अमीर देश अब पीछे हटने लगे हैं। 1928 में हालैंड में ओलंपिक विश्वकप खेलों का आयोजन हुआ था, जिसे 2028 में 100 साल हो जाएंगे। इस मौके पर एक बार फिर ओलंपिक खेलों का मेजबान हों, ऐसा रूमानि खयाल हालैंड को आया था। लेकिन आयोजन पर होने वाले भारी खर्च को ध्यान में रखते हुए वहां की नई संयुक्त सरकार ने 2028 के ओलंपिक के लिए बोली लगाने का विचार त्याग दिया।

विश्वकप और ओलंपिक जैसी मेगा इवेंटों के आयोजन के पक्ष में निम्न दलीलें दी जाती हैं। इनके आयोजन से देश में खेलों के इन्फ्रास्ट्रक्चर (बुनियादी ढांचा) का स्तर उन्नत हो जाएगा। साथ में आनुषंगिक फायदा यह होगा कि हवाई अड्डे, सड़कें, सार्वजनिक परिवहन सेवाएं उन्नत होंगी (जबकि ये नगरपालिकाओं और राष्ट्रीय सरकार के कर्तव्य हैं)। इनसे विकासशील देश अन्य देशों में अपनी अर्थव्यवस्था की सफलता का प्रदर्शन कर पाएंगे और राष्ट्रों के बीच उनकी इज्जत बढ़ेगी। यही नहीं इनके आयोजन से विश्वस्तर के शहरों का भी निर्माण हो सकेगा।

मेगा इवेंटों के आयोजन के बारे में जो अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चलता है कि सिर्फ 1984 में लॉस एंजेल्स के ओलंपिक खेलों में नफा हुआ था। 1976 में मोंट्रियल (कनाडा) में ओलंपिक खेल हुए थे। उनमें इतना ज्यादा घाटा हुआ कि 25 वर्ष तक कर्ज चुकाया

जाता रहा। मोंट्रियलवासियों ने मुख्य स्टेडियम के बारे में यह कहना शुरू कर दिया कि उसे 'उत्सव केन्द्र' कहने के बजाय 'उधार केन्द्र' कहा जाना चाहिए।

मेगा इवेंटों से खेलों या अर्थव्यवस्था को यदि कोई फायदा होता है तो वह नगण्य ही होता है। असल में होता यह है कि सार्वजनिक कोष से किए जाने वाले खर्च को ठेकेदार, सप्लायर आदि अपनी जेबों में टूस कर मालामाल हो जाते हैं। जब कोई देश ओलंपिक खेलों या विश्वकप के आयोजन के लिए बोली लगाता है तब नागरिकों को वचन दिया जाता है कि आयोजन पर सार्वजनिक कोष से एक भी पैसा खर्च नहीं किया जाएगा और देश का मान-सम्मान भी बढ़ेगा। भारत में राष्ट्रमंडल खेलों के आयोजन के समय कहा गया था कि 1200 करोड़ रुपए निजी क्षेत्र से उगाहे जाएंगे। लेकिन खेलों के 4 महीने पहले तक सिर्फ 342 करोड़ का इंतजाम हो सका तो सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को योगदान करने को कहा। खेलों के आयोजन पर जितने खर्च का अनुमान किया गया था वह रोज बढ़ता ही गया।

2004 में एथेंस (यूनान) के ओलंपिक खेलों के आयोजन पर अनुमान से दुगुना (11 अरब डालर) खर्च हुआ जिसमें 7 अरब तो करदाताओं के मत्थे चढ़ाया गया। यूनान की अर्थव्यवस्था के चरमराकर ढहने के पीछे ओलंपिक का प्रत्यक्ष हाथ न माना जाए तो भी परोक्ष हाथ से इंकार नहीं किया जा सकता।

ओलंपिक खेल देश के गरीब नागरिकों पर क्या-क्या कहर नहीं ढहाते! सिओल ओलंपिक खेलों के वक्त 48 हजार घर उजाड़े गए और 7 लाख लोग विस्थापित हुए। 2008 के बीजिंग ओलंपिक खेलों में 15 लाख से अधिक लोग विस्थापित हुए। ओलंपिक के लिए बनाए गए स्टेडियम बेकार पड़े हैं।

मेगा इवेंटों के बारे में बड़ी लुभावनी बातें कही जाती हैं- इनसे पर्यटन को बढ़ावा मिलेगा, रोजगार पैदा होगा, अर्थव्यवस्था में मजबूती आएगी और जो निर्माण कार्य किए गए होंगे वे विरासत के रूप में वर्षों बने रहेंगे और उनका लाभ देशवासियों को अनंत काल तक मिलता रहेगा। लेकिन ये सारी लुभावनी बातें आयोजन के समाप्त होते ही काफूर हो जाती हैं।

मेगा इवेंट केवल शहरी धनी वर्ग के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों के लिए तो वह मुसीबत है जो उन्हें बेघर भी कर सकती है।

# हरियाणवी संस्कृति को कैसे समझें

अमनदीप वशिष्ठ

हरियाणा की अपनी एक पहचान है। लेकिन इसके अपने अंतर्विरोध भी हैं। शिक्षा और समृद्धि के साथ विकृतियां भी बढ़ रही हैं। हरियाणवी संस्कृति को पर्यटन विभाग के मेलों से नहीं समझा जा सकता। मार्क्स के चिंतन में भी पश्चिमी श्रेष्ठता के भाव का दोष है। लेकिन ग्रामशी के 'सांस्कृतिक वर्चस्व' के विचार और एडवर्ड सर्ईद के प्राच्यवाद से हरियाणा की संस्कृति को समझने में मदद मिल सकती है।

अमनदीप वशिष्ठ  
भौतिकी के अध्यापक  
हैं।

पता:  
मकान नं. 2006, सेक्टर  
2 एव 3, रोहतक,  
हरियाणा

फोन : 09729482329

vashishthaman  
@yahoo.com

आज हरियाणा को बने लगभग 47 साल हो चुके हैं यानी करीब आधी सदी पूरी होने को आई है। इसी बीते समय के दौरान अनेकानेक बदलावों का एक पूरा जाल तैयार हुआ है जो हरियाणवी जन-जीवन के सभी आयामों को प्रभावित करता है। हरियाणा पर केंद्रित किसी भी चिंतन का एक अभिन्न पक्ष इन सभी बदलावों के जाल की संरचना का अध्ययन होगा और साथ ही उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण भी आवश्यक होगा जो इन बदलावों के साथ गुंथी हुई हैं। हरियाणा की स्थिति और समाज की चर्चा में न केवल दृष्टियों का भेद रहेगा बल्कि समस्याओं का चयन भी अलग-अलग वर्गीय स्थितियों पर निर्भर होगा। इस बेहद विस्तृत क्षेत्र में से किसी एक पक्ष को बाकी पक्षों से बिल्कुल काटकर नहीं समझा जा सकता। किसी भी पक्ष को उसके सामयिक संदर्भों और बाकी पक्षों के साथ संबंधों के आईने में देखना ज्यादा उपयोगी साबित होता है। इन उलझावों और जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत लेख में हरियाणा की सांस्कृतिक स्थिति की चर्चा को केंद्र बनाकर हरियाणा के वर्तमान को समझने का प्रयास है। यहां इस बात की परख करने की कोशिश है कि भारतीय और साथ ही पूरी एशियाई संरचना में हरियाणा नाम का जो तत्व है, उसकी प्रकृति कैसी है।

संस्कृति के किसी भी विमर्श में आलोचना का आधार कुछ मूल्य होते हैं, सामान्यतया ये मूल्य ऐतिहासिक आलोचनात्मक प्रक्रियाओं के भीतर से सृजित किए जाते हैं। संस्कृति की वर्तमान आलोचना पिछली प्रक्रियाओं से मूल्य आत्मसात करती

हुई विकासमान होती है। संस्कृति और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने के आलोचनात्मक प्रयास मुख्यतया दो भागों में बांटे जा सकते हैं। एक वे प्रयास जो किसी संस्कृति को बाहर से समझते हैं यानी उनके लिए अध्ययन के अंतर्गत आने वाली संस्कृति 'अन्य' (दि अदर) होती है। दूसरी ओर वे आलोचनात्मक प्रयास हैं जो मानते हैं कि संस्कृति का अध्ययन उसी संस्कृति के भीतर उपजे मूल्यों के आधार पर किया जाना चाहिए।

## सईद का प्राच्यवाद

पिछली सदी में ऐसा ही एक प्रयास बड़े स्तर पर अरब इलाके के अध्ययन के लिए एडवर्ड सर्ईद द्वारा किया गया। उनका यह कार्य ओरिएंटलिज्म (प्राच्यवाद) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस देश में एक लंबे समय से साहित्य-संस्कृति में बहुत प्रशंसनीय तरीके से मार्क्सवादी आलोचना के तत्वों का इस्तेमाल हुआ है। हालांकि उसकी अपनी कमियां और सीमाएं हैं, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि मार्क्सवादी आलोचकों ने अपना कार्य बेहद मनोयोग के साथ किया। पर जब हम हरियाणा के वर्तमान सांस्कृतिक संकट को देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि एडवर्ड सर्ईद की दृष्टि ज्यादा संवेदनशील और सहानुभूतिपूर्ण तरीके से हरियाणवी जटिलताओं को समझने में मदद करती है। साथ ही यह भी एक अन्य महत्वपूर्ण बिंदु है कि एडवर्ड सर्ईद परवर्ती मार्क्सवादी चिंतन को अपने चिंतन में समेटते हैं और अधिक समावेशी जान पड़ते हैं। अतः सर्ईद का प्राच्यवाद सामाजिक वर्तमान के विश्लेषण के लिए ज्यादा ठोस जान पड़ता है।

कई बार यह भी कहा जाता है कि बजाय इतनी सैद्धान्तिक उठापटक के क्यों न सीधे ही यथार्थ से सामना किया जाए। किसी आलोचना पद्धति का सहारा लेकर चीजों को जटिल क्यों बनाया जाए? क्या तथ्यों से सीधे-सीधे साक्षात्कार संभव नहीं है? ये आपत्तियां इस भय से उपजती हैं कि एक सैद्धान्तिक ढांचे का इस्तेमाल कहीं यथार्थ की समझ को कुंद न कर दें। निश्चित रूप से यदि यांत्रिक और बेजान तरीके से किसी आलोचना के स्थापित ढांचे का इस्तेमाल होगा तो वह तथ्यों पर रोशनी डालने की बजाय धुंध की तरह काम करेगा और जटिलताएं बढ़ेंगी। लेकिन चूंकि हम किसी ऐतिहासिक-वैचारिक शून्य में नहीं जीते, इसलिए बिना किसी पृष्ठभूमि के सीधे-सीधे तथ्यों का साक्षात्कार कोई अर्थ नहीं रखता। यह भी



ख्याल रखने लायक बात है कि स्वयं कोई भी आलोचना पद्धति शून्य में नहीं वरन, यथार्थ से साक्षात्कार के प्रयास में ही उपजती है। अतः हरियाणा के संदर्भ में इतना कहा जा सकता है कि चूंकि हमने खुद कोई गहन आलोचना का ढांचा विकसित नहीं किया, अतः उस ढांचे का इस्तेमाल किया जा सकता है जो हमसे मिलती-जुलती समस्याओं से जूझने के लिए विकसित किया गया हो। सईद की आलोचना अरब इलाके के संदर्भ में जरूर विकसित हुई लेकिन हम ठीक से देखेंगे तो मालूम होगा कि अरब संस्कृति पर (और पूरे पूर्व पर) आक्रमण ठीक वैसा ही था जैसा अब हरियाणा पर है। एक झटके में अपमानजनक तरीके से 'देयर इज नो कल्चर एक्सेप्ट एग्रीकल्चर' (अर्थात् यहां खेती के अलावा कोई संस्कृति नहीं है) जैसे जुमले फेंका जाना तो कम से कम यही संदेश देता है।

इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए इस सारे विमर्श के संदर्भ में एडवर्ड सईद के चिंतन से कुछ तत्व लेना उपयोगी होगा। अपनी कृति 'ओरिएंटलिज्म' में सईद कुछ प्रश्न उठाते हैं जो मानवीय अनुभव के क्षेत्र में आनी वाली समस्याओं की चर्चा में प्रासंगिक हैं। सईद लिखते हैं - "कोई दूसरी संस्कृतियों को कैसे पेश करता है? दूसरी या अन्य संस्कृति क्या हैं? क्या एक अलग संस्कृति (या नस्ल या धर्म या सभ्यता) का विचार उपयोगी है, या यह (विचार) हमेशा आत्मसंतुष्टि या आत्मप्रशंसा (अहं-पूर्ति) बनता है, अथवा शत्रुता या आक्रामकता बनता है जब अन्य दूसरे की चर्चा हो। क्या सांस्कृतिक, धार्मिक या नस्लीय अंतर सामाजिक-आर्थिक वर्गों या राजनैतिक-ऐतिहासिक वर्गों से ज्यादा मूल्यवान है?" क्या ठोस सांस्कृतिक अंतर जैसी कोई चीज होती है? और यदि होती है तो उसका मूल्य क्या है?

## हरियाणा की पहचान

सईद की दृष्टि को ध्यान में रखकर यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि अपने इलाके की चर्चा में अनावश्यक प्रशंसा का भाव न हो और किसी दूसरी संस्कृति की बात करते समय उसे नीचा दिखाने का कोई प्रयास न हो। साथ ही हरियाणा के संदर्भ में कुछ प्रश्न किए जा सकते हैं। क्या हरियाणा केवल एक राजनीतिक इकाई है जो 1966 में अस्तित्व में आई थी और क्या उसका उतना ही अर्थ है? क्या हरियाणवी संस्कृति जैसी कोई गतिशील और ऊर्जावान प्रक्रिया अपना अस्तित्व रखती है? एक समान सांस्कृतिक सूत्र के बीज यहां रहे हैं, इसके काफी प्रमाण गिनाए जाते हैं। उन्हीं में से एक यहां के कवि जैतराम (जन्म 1737) की कुछ पंक्तियां हैं जिनमें भौगोलिक चेतना का आधार भी शामिल है -

*बागड़ जमना मधि बिचालै सुखदाई मन भावै*

तथा

*ब्रज और घाघरि मध्य हरियाणा समझ बिचारो भाई।*

जैतराम की इन पंक्तियों से साफ है कि हरियाणा की भौगोलिक सीमाओं की समझ काफी पुरानी है और 1966 में बनी राजनीतिक इकाई ठोस ऐतिहासिक चेतना के आधार पर बनी है। यह चेतना निश्चित रूप से सामूहिक अवचेतन में लंबे समय तक घुली रही होगी और 1966 के

आसपास इसने ठोस रूप लेना आरंभ कर दिया।

हरियाणवी संरचना का मुख्य घटक ग्रामीण इलाका है। मौजूदा समय की सरकारी-नौकरशाही नीतियां पूरे भारत के गांवों को लेकर एक-सा दृष्टिकोण रखती हैं। उनकी दृष्टि में गांव पिछड़ेपन का पर्याय होते हैं और द्रुत नगरीकरण ही इस पिछड़ेपन का समाधान है। यदि नगरीकरण का अर्थ भौतिक सुख-सुविधाओं की विपुलता, शिक्षा का प्रचार-प्रसार और आधुनिक विज्ञान की मदद से जनसामान्य की तकलीफें कम करना होता तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती थी। पर नगरीकरण एक सांस्कृतिक बुलडोजर के रूप में आया और पूरे यूरोप, अफ्रीका और एशिया तक इसने जो एक मुख्य काम किया वह है सांस्कृतिक विविधता का खात्मा। आधुनिक नगरीकरण यूरोपीय मूल्यों पर आधारित संकल्पना है। एक बेहद भयावह एकरूपता इसका अवश्यंभावी नतीजा है। रीति-रिवाज, खान-पान, पहनावा और बोलचाल के अनेकानेक रूप उसकी भेंट चढ़ चुके हैं। यह सब सरकार, नौकरशाही और पूंजी के गठजोड़ की बदौलत संभव हुआ है।

स्पष्ट है कि जहां तक सांस्कृतिक संकट के मौजूद होने की बात है उसमें केवल हरियाणा ही नहीं बल्कि कई ऐतिहासिक परंपराएं शिकार बनी हैं। हालांकि हरियाणा के साथ कुछ विशेष बिंदु जुड़े हैं। हरियाणा में भूमि संबंध और राजस्व अदायगी के तरीके बाकी भारत से कुछ अलग रहे हैं। पूरे भारत में जहां रैयतवारी व जमींदारी प्रथाएं थीं, वहीं हरियाणा में (और पंजाब में भी) इन दोनों से कहीं बेहतर महलवाड़ी व्यवस्था थी। अतः ऐतिहासिक कोण से देखने पर भी यह स्पष्ट है कि यहां की आर्थिक संरचना अलग प्रकार से विकसित हुई। इन्हीं कारणों ने आगे चलकर हरियाणा को हरित क्रान्ति के प्रमुख केन्द्र में तब्दील कर दिया और भरपूर आर्थिक समृद्धि आई। वर्तमान भारतीय संदर्भों में हरियाणा की स्थिति कुछ इस तरह की है कि यह जबरदस्त औद्योगिक विकास और सामाजिक बदलाव के केन्द्रों (दिल्ली, नोएडा) से सटा है और कुछ केन्द्र खुद हरियाणा में बनने लगे हैं (जैसे गुड़गांव, फरीदाबाद आदि)। ये स्थान आधुनिक मीडिया के केन्द्र भी हैं। इस सारे भौगोलिक समीकरण का परिणाम यह हुआ है कि हरियाणा जाने-अनजाने एकदम निशाने पर आता है। स्वाभाविक रूप से, मूल्यों और परंपराओं के संघर्ष ने पिछले दो दशक में जोर पकड़ लिया है।

## सांस्कृतिक सफाया और वर्चस्व

सांस्कृतिक रूपांतरण की संतुलित प्रक्रिया वह मानी जा सकती है जहां नए प्रतीक और तौर-तरीके, स्थापित प्रतीकों के साथ एक तारतम्य बनाकर जड़ों को गहरा करते हैं और संस्कृति का फैलाव करते हैं। पर हम सभी ने देखा है कि हरियाणा में सांस्कृतिक फैलाव के स्थान पर सांस्कृतिक सफाया हुआ। इस सफाये के प्रयास में जो नए तत्व आए उन्होंने हरियाणा के परंपरागत मूल्यों को न केवल मिटाया बल्कि ऐसी विचार प्रक्रिया को मान्यता दी जिसमें परंपरागत मूल्यों को अनिवार्यतः हीन समझा जाता है।

आज हरियाणवी संस्कृति के कितने जीवंत तत्व हैं जो रोजमर्रा की जिंदगी में मिलते हों और केवल सरकारी आयोजनों तक सीमित न हों? निश्चित रूप से वह तत्व जो किसी सरकारी मेले से एक सप्ताह या पखवाड़े के लिए मिलता हो उसे सांस्कृतिक जीवन का अंग नहीं माना जा सकता। बिखरते सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के सामने युवा महोत्सव या मेले सांत्वना से अधिक कुछ नहीं है।

इस सबके बीच संस्कृति को संरक्षित करने व बचाने के सरकारी या संस्थागत प्रयास बेहद कृत्रिम और दिखावटी हैं। उदाहरण के तौर पर सभी जानते हैं कि एक ओर विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन की नीतियां वैश्विक स्तर पर हर परंपरागत उद्योग, हाथ के काम करने वाले समाजों और उनकी संस्कृतियों को बर्बाद करती हैं वहीं यूनेस्को इन्हें बचाने का दिखावा करता है। कमोबेश यही काम हमारे यहां स्थानीय स्तर भी होता है। पूंजी के खेल से हस्तकलाओं को खत्म कर चुकने के बाद महज पर्यटन उद्योग के लाभ के लिए हैंडीक्राफ्ट मेलों को एक तमाशे से अधिक और क्या कहा जा सकता है? किसी तत्व का म्यूजियमीकरण इस बात की घोषणा है कि हमने इसकी सामाजिक मौत स्वीकार कर ली है।

पिछले कुछ दशकों में हरियाणा की कुछ छवियां गढ़ी गई हैं। जैसे कि यह गुड़गांव, फरीदाबाद जैसे औद्योगिक विकास का नमूना है या कहीं यह छवि कि हरियाणा सर्वश्रेष्ठ गेहूं उत्पादक राज्य है या फिर यह राजनीतिक उठापटक और अवसरवाद का गढ़ है। ये सभी बातें तथ्य अवश्य हैं, पर इन्हें हरियाणवी पहचान बताना थोड़ी अति होगी। हरियाणवी परिदृश्य में यहां के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में कुछ अंतर्विरोध भी उभर आए हैं। दक्षिण हरियाणा की उपेक्षा से वहां के इलाके में एक

अलग चेतना का उभार पैदा हुआ है। यह एक खेद का विषय है कि जिस आर्थिक-सामाजिक भेदभाव से दुखी होकर हरियाणा बनाने की मांग उठी थी, आज खुद उसी हरियाणा में अपनों के साथ ऐसा बर्ताव हो रहा है। मुख्यमंत्रियों द्वारा केवल अपने-अपने जिलों (चाहे वह भिवानी, हिसार, सिरसा, रोहतक जो भी हो) का विकास करने की जो मिसाल यहां कायम हुई है, उससे क्षेत्रवाद, राज्यवाद जैसे शब्द फीके पड़ गए हैं। अब निश्चित रूप से जिलावाद शब्द का इस्तेमाल होना चाहिए और अगर यूं ही चलता रहा तो शायद तहसीलवाद भी शीघ्र ही प्रचलन में होगा। इन राजनीतिक-अंतर्विरोधों की चर्चा इसलिए आवश्यक है क्योंकि सांस्कृतिक एकीकरण और राजनीतिक विघटन की प्रक्रियाएं साथ-साथ नहीं चल सकती। अतः सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए ही हरियाणवी संस्कृति की समझ का रास्ता खुलने की आशा रखी जा सकती है।

सांस्कृतिक अस्तित्व के नाम पर हरियाणा के पास पर्यटन विभाग द्वारा आयोजित मेलों, उत्सवों और लोक संपर्क विभाग के सरकारी गीतों के अलावा कम ही चीजें हैं। इस संदर्भ में इन सब छवियों और बदले में दिखाए गए लुभावनें आदर्शों को सांस्कृतिक वर्चस्ववाद की प्रक्रिया से समझने का प्रयास किया जा सकता है। इटली के क्रान्तिकारी-चिंतक ग्रामशी ने प्रतिपादित किया कि समाज में कुछ विचार या संस्थाएं बाकी विचारों या संस्थाओं से अधिक प्रभावशाली होते हैं और यह सांस्कृतिक वर्चस्व (हेजेमनी) कहलाता है। आज केवल पुलिसिया तरीकों या शक्ति द्वारा समाज पर नियंत्रण संभव नहीं है इसलिए शासक वर्ग अपने विचारों के लिए 'सहमति' पैदा करने की सूक्ष्म प्रक्रियाएं ईजाद करता है। शासन तंत्र और बाजार की शक्तियां मिलकर एक लम्बे समय में महीन प्रक्रियाओं से कुछ शक्तिशाली छवियां गढ़ते हैं। ये छवियां धीरे-धीरे आमजन के अवचेतन में उतर जाती हैं और एक समय में सामान्य चेतना (यानी कॉमन सेंस) का रूप ले लेती है। इसलिए यह हैरानी की बात नहीं है कि खुद आज का युवा और पढ़ा-लिखा हरियाणवी समाज हरियाणा को सिर्फ गढ़ी हुई छवियों के आधार पर जानता है।

## मार्क्स की सीमाएं

इसी बीच यह स्पष्ट कर देना उचित होता कि एक ओर जहां ग्रामशी ने मार्क्सवादी चिंतन में बेहद पैने औजार विकसित किए वहीं दूसरी ओर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि खुद मार्क्स के निजी चिंतन में पश्चिमी श्रेष्ठता के बीज थे। सईद ने मार्क्स की पंक्तियों का हवाला दिया है जिसमें मार्क्स लिखते हैं कि - इंग्लैंड को भारत में दोहरा मिशन पूरा करना है - एक ध्वंसात्मक और दूसरा रचनात्मक - एशियाई समाज का खात्मा और पश्चिमी समाज के (ठोस) भौतिक आधार की स्थापना। शायद यही ये छिपे हुए कारण हैं कि स्थापित पुरातनपंथी मार्क्सवादी धाराएं हरियाणा को एक झटके में पिछड़ा बताकर दूसरी तरफ से उधार के आधुनिक मूल्यों को रामबाण दवा की तरह पेश करती हैं।

मार्क्स की इन सीमाओं को ध्यान में रखकर जहां कई वामपंथी मार्क्सवादी धाराएं स्वयं को पश्चिमी जकड़बंदी से मुक्त करने का प्रयास कर रही हैं वहीं दूसरी ओर कुछ धाराएं आज भी पश्चिमी औद्योगिक श्रेष्ठता के भक्ति भाव से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाई हैं। हरियाणा की संस्कृति में घुला पिछड़ापन का विचार इन्हीं दूसरी किस्म की

*नगरीकरण एक सांस्कृतिक बुलडोजर के रूप में आया और पूरे यूरोप, अफ्रीका और एशिया तक इसने जो एक मुख्य काम किया वह है सांस्कृतिक विविधता का खात्मा। आधुनिक नगरीकरण यूरोपीय मूल्यों पर आधारित संकल्पना है। एक बेहद भयावह एकरूपता इसका अवश्यभावी नतीजा है।*

विचारपद्धति का उत्पाद है। यहां मार्क्सवादी चिंतन का बार-बार जिक्र इसलिए किया जा रहा है कि हरियाणवी संदर्भ में वामपंथी-मार्क्सवादी चिंतक कार्पोरेट जगत के साथ सुर में सुर मिलाते नजर आते हैं। इस सबका अर्थ यह नहीं है कि कोई भी पश्चिमी दृष्टि पूरी तरह गलत है बल्कि वह कई क्षेत्रों में लाभदायक भी है। पर चूंकि उसमें लगातार एक ऐसा भाव रहा है कि ये सभी समाज और उनकी संस्कृतियां पश्चिम के बराबर की नहीं हैं तो स्वाभाविक रूप से पश्चिमी दृष्टि के विश्लेषण में 'मैं-तुमसे-अधिक-पवित्र' का भाव घुला रहता है। यानी ज्यादातर मौकों पर पश्चिमी दृष्टि चीजों को ठोस और सहानुभूति पूर्ण तरीके से समझने की बजाए शुरूआत से ही दूसरों को सुधारने के भाव से अध्ययन करती है।

इस सारी चर्चा का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि हरियाणा को सर्वगुण संपन्न सिद्ध किया जाए और न ही

यह साबित करने का कोई प्रयास है कि हरियाणा में कुछ गलत है ही नहीं। हरियाणवी समाज के अपने विरोधाभास हैं। लेकिन उन विरोधाभासों की आलोचना के प्रतिमान इस प्रकार के होने चाहिए जो हरियाणवी समाज की चेतना और आंतरिक ऐतिहासिक दबावों के घर्षण से निकले हों। सुधारवाद की महत्वाकांक्षा में जन्मा कोई भी प्रतिमान जल्दी ही कृत्रिम और जड़ साबित हो जाता है। कोरे सुधारवाद में बसा 'श्रेष्ठता का दर्शन' उसे जमीन से काट डालता है और उसे एक धार्मिक प्रचारक जैसा बना देता है जिसे ठोस स्थितियों को समझने की बजाय पतित मानवता के उद्धार की चिंता ज्यादा रहती है।

### हरियाणवी समाज के दोष

आज यथार्थ स्थिति यह है कि विशुद्ध ठेठ देहात लगभग गायब हो चला है। ठीक से कहा जाए तो ठेठ देहात सिवाय किताबों और म्यूजियम के बाहर कहीं नहीं है। देहात की सामाजिक भाईचारे की चेतना पुराने ढांचे से बाहर आकर चरमराने लगी है और जमीन के आसमान छूते दामों ने जमीन के सामूहिक स्वामित्व की रही-सही चेतना को भी मिटाने की प्रक्रिया को और तेज कर दिया है। हरियाणा की सामाजिक स्थिति पर गौर करें तो लड़कों के मुकाबले लड़कियों की कम संख्या, अपराध का बढ़ता ग्राफ और दलितों-महिलाओं की कमजोर स्थिति इस पर लगने वाले मुख्य आरोप हैं जिनकी पड़ताल बेहद जरूरी है और जिनसे जूझने के ठोस प्रयास किए जाने चाहिए।

मिसाल के तौर पर घटते लिंगानुपात (लड़कों के मुकाबले लड़कियों की संख्या) को परखने की कोशिश करें। इस संदर्भ में शिक्षा और आर्थिक समृद्धि, जिसे हमने आधुनिकता समझा था, उसकी भूमिका पर विचार बेहद जरूरी है। यह माना जाता है कि शिक्षा और आर्थिक समृद्धि मनुष्य की चेतना को विकसित करते हैं और सामाजिक बुराईयों को दूर करते हैं। यह बात काफी हद तक सही भी है। लेकिन जब हम हरियाणा की लिंगानुपात की समस्या को देखते हैं तो उपरोक्त बात टूटती हुई सी नजर आती है। तथ्यों पर नज़र डालने पर कुछ और ही दीख पड़ता है। शिक्षा के और आर्थिक समृद्धि के क्षेत्र में सबसे पिछड़े माने जाने वाले मेवात जिले का लिंगानुपात हरियाणा में सबसे बेहतर (906:1000) है। दूसरी तरफ हरियाणा के सबसे ज्यादा साक्षरता दर वाले जिले गुड़गांव (जो कि आर्थिक विकास का भी नायाब नमूना माना जाता है) का लिंगानुपात हरियाणा

में सबसे खराब (853:1000) है। ऐसा लगता है कि शिक्षा का तो नाम भर है। उसके नीचे कुछ और ही चलता है।

लिंगानुपात की समस्या एक बड़े उलझे हुए तरीके से जायदाद के निजी स्वामित्व, उत्तराधिकार के प्रश्न और बेहद खर्चीली विवाह प्रक्रिया के साथ गुंथी हुई है। ऊपर से लड़कियों की घोर सामाजिक असुरक्षा ने इसे और जटिल बना डाला है। एक तरफ पूरे परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा के जुए को स्त्रियों के कंधों पर डाल दिया जाता है और दूसरी तरफ सबसे अधिक सामाजिक हमला भी उन्हीं पर है। इस पूरी समस्या का हल न तो परंपरा में है और न ही छद्म आधुनिकता में। परंपरा लड़कियों और स्त्रियों की सामाजिक सुरक्षा जरूर सुनिश्चित करती थी पर बदले में उनका पूरा मनोवैज्ञानिक ढांचा रौंद दिया जाता था। वहीं जिसे हम आधुनिकता मान रहे हैं वह स्त्रियों को एक खुलेपन और आजादी का अहसास जरूर कराती हैं पर बदले में साथ ही साथ उन्हें केवल एक वस्तु में तब्दील करती हुई चलती है। सच्ची आधुनिकता वही होगी जो स्त्रियों को पूरी सामाजिक सुरक्षा के साथ उनके मनोवैज्ञानिक अस्तित्व को पूरी जगह दें, ताकि पूरे समाज के अवचेतन में लड़की के पैदा होने को लेकर जो गहरा भय बैठ गया है, वह दूर हो सके।

इसी प्रकार समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीतिशास्त्र से मदद लेते हुए हम जाति समस्या और अपराध का भी हरियाणवी संदर्भ को ध्यान में रखते हुए अलग विश्लेषण तैयार कर सकते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि किसी सामाजिक इकाई में दिक्कतें हो सकती हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम इस पूरी सामाजिक इकाई और उस में बसी संस्कृति को ही कोसना शुरू कर दें।

साफ जाहिर है कि उधार के आधुनिक मूल्य कभी-कभी वैसे नतीजे नहीं देते जैसा सोचा जाता है। आधुनिकता स्वयं में कोई बनी बनाई चीज या परिघटना नहीं होती जिसे हम जहां चाहें वहीं उठाकर चिपका दें। आधुनिकता तो परंपरा के अंतर्विरोधों के घर्षण से खुद उपजती है। परंपरा को एक तरफ ठेलकर बाहर से आमंत्रित आधुनिकता स्वयं में एक बोझ बन जाती है। हालांकि मूल्यों की इस त्रासदी में तो हरियाणा नहीं बल्कि एक तरह से पूरा एशिया शरीक है।

आज एक बहुआयामी संघर्ष की आवश्यकता है जो केवल छिछली नारेबाजियों तक सीमित न हो वरन् एक गंभीर बहस को जन्म दे। तभी कुछ ऐसी उम्मीद बनेगी जिससे हरियाणा की पहचान का रास्ता आसान हो सकेगा।

# दलित स्त्री की आवाज

प्रियंका सोनकर

दलितों में भी  
दलित है दलित  
स्त्री। वह ब्राह्मण  
व्यवस्था और  
पुरुषसत्ता दोनों  
की शिकार हुई है।  
अपनी जगह और  
अस्मिता को  
लेकर संघर्ष करते  
हुए कई दलित  
लेखिकाएं उभर  
कर आ रही हैं।  
दलित स्त्री के  
सवालों और  
आवाज को  
रेखांकित करता  
लेख।

प्रियंका सोनकर  
जवाहरलाल नेहरू  
विश्वविद्यालय में हिंदी  
की शोधछात्रा है।

पता:

भारतीय भाषा केंद्र,  
जवाहरलाल नेहरू  
विश्वविद्यालय, नई  
दिल्ली - 110067

फोन : 09873054692

priyankasonkar  
@yahoo.co.in

हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलितों, स्त्रियों एवं आदिवासियों की उपेक्षा, उनकी अनदेखी, उनके अमूल्य योगदान सब पर एक चुप्पी छाई हुई थी। इस प्रकार की अनुपस्थिति और अपने अस्तित्व, अस्मिता तथा श्रम का अवमूल्यन होते देख आज सचेत दलितों, स्त्रियों तथा आदिवासियों ने साहित्य में अपनी उपस्थिति और स्थान के लिए संघर्ष करना शुरू कर दिया है। यही कारण है कि दलितों में दलित यानि दलित स्त्री भी अपनी उपेक्षा को भांपकर समाज और साहित्य में अपना स्थान निर्धारित करने के लिए आंदोलन कर रही हैं।

कोई भी विमर्श हवा में नहीं उठ खड़ा होता। उसके जन्म लेने के पीछे कोई विशेष कारण होता है। जैसे हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति आंदोलन या फिर प्रगतिशील आंदोलन का आना। उसके लिए विशेष परिस्थितियां पहले से ही जन्म ले रही होती हैं। आज हिंदी साहित्य में दलित और स्त्री विमर्श के स्वर सुनाई पड़ रहे हैं तो यह सदियों के शोषण का इतिहास ही है जिसके प्रतिरोध की आवाज ने उत्पीड़न की दास्तान को केंद्र में लाकर खड़ा किया है। अब तक मुख्यधारा के साहित्य ने इसे अनदेखा किया था।

दलित स्त्री विमर्श भी इसी का एक अहम हिस्सा है जिसको सर्वर्ण साहित्य का स्त्री विमर्श और दलित पुरुषों को दलित विमर्श भी एक तरह से अनदेखा कर रहा था। उपेक्षा का भी अपना एक इतिहास होता है। अब से पहले लिखे गए संपूर्ण हिंदी साहित्य को एक बार पलटकर देखें तो दलितों, स्त्रियों और आदिवासियों की संवेदना, दुःख, उत्पीड़न और

उनके साथ हुए अन्याय को कहीं भी दर्ज नहीं किया गया। अब तक के हिंदी साहित्य में इनकी उपेक्षा ही की गई थी। अगर किसी व्यक्ति को यह अहसास हो जाए कि उसकी उपेक्षा हो रही है तो वह भी अपने अस्तित्व और पहचान के लिए कोई न कोई रास्ता अवश्य ढूंढ लेता है।

सत्तर के दशक में पश्चिम में नारी आंदोलन की दूसरी लहर उठी। इसमें जिस तरह से नस्ल के सवाल की अनदेखी को लेकर नारीवादियों ने आवाज उठाई थी, उसी तर्ज पर भारत में भी नब्बे के दशक में कई प्रयास दिखाई दिए। दलित नारीवादियों ने एक तरफ नारी आंदोलन में जाति के प्रश्न की उपेक्षा को अपने एजेंडे पर उभारा वहीं साथ ही साथ दलित आंदोलन के अंदर पितृसत्ता के प्रश्न की अनदेखी को भी निशाना बनाया। इस आंदोलन की नारीवादियों को मानना है कि दलित महिलाएं दो अलग-अलग तरह का पितृसत्तात्मक नियंत्रण झेलती हैं - एक जाति की शुद्धता पर टिकी ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का तथा दूसरा अपने समुदाय की महिलाओं को अपनी संपत्ति मानते हुए दलित पुरुषों द्वारा उन पर नियंत्रण।

शर्मिला रेगे एक भारतीय समाज विज्ञानी, नारीवादी विद्वान तथा लेखक हैं जो जाति और जेंडर आधारित पहलुओं पर लिखती हैं। उन्होंने दलित महिला आंदोलन का नया सिद्धांत पेश करने की कोशिश की है तथा वह जोर देते हुए कहती हैं कि “पितृसत्ता के भौतिक आधार को उद्घाटित करने के लिए जरूरी है कि विभिन्न जातियों, वर्गों, समुदायों में व्याप्त श्रम, यौनिकता और पुनरुत्पादन के



मसले को केंद्र में लाया जाए। ”

दलित स्त्री विमर्श भारतीय समाज व्यवस्था के सबसे आखिरी पायदान पर खड़ी दलित स्त्री के रचनात्मक योगदान को रेखांकित करता है। दलित स्त्री को ऐतिहासिक रूप से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र से हमेशा बाहर रखा गया है। दलित स्त्री विमर्श इस पर सवाल खड़ा करता है। वह तिहरे शोषण की शिकार दलित स्त्री के दग्ध जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति में जाति अपमान, तिरस्कार, यौन हिंसा, पितृसत्ता और गरीबी से मुक्ति के प्रश्नों को खड़ा करता है। दलित स्त्री लेखन मनु निर्धारित नैतिकता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का तीखा विरोध करता है। मूल रूप से “दलित स्त्री विमर्श” व्यक्ति पहचान के संघर्ष में स्त्री-अस्मिता और उसके स्व-अधिकारों का प्रश्न लेकर साझे समतावादी आंदोलन में शामिल हुआ है।

डॉ. भीमराव आंबेडकर का मानना था कि “हिंदू समाज उस बहुमंजिला इमारत की तरह है जिसमें प्रवेश के दरवाजे बंद हैं तथा जो व्यक्ति जिस मंजिल पर जन्म लेता है उसे उसी में मरना होता है।” उनके इस कथन को दलित स्त्री के संदर्भ में विशेष तौर पर देखा जा सकता है। स्त्री की स्थिति हिंदू वर्ण

व्यवस्था में दलितों की स्थिति के समकक्ष है। किंतु यह एक बहस का मुद्दा है कि उच्चवर्गीय सवर्ण स्त्री भी क्या दलित की तरह शोषित है और इसी श्रेणी में आती है?

## अत्याचारों की ज्यादा शिकार

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक रूप से दलित नारी को मानवाधिकारों से दूर रखा गया है। नृशंसता का शिकार भी सबसे अधिक दलित महिलाओं को ही होना पड़ता है। बलात्कार एक ऐसी जघन्य समस्या है जिसका शिकार गैर-दलित महिलाएं भी होती हैं, किंतु दलित महिलाओं को इसका शिकार अधिक होना पड़ता है क्योंकि वे मजदूरी के लिए तथाकथित उच्च जातियों पर निर्भर होती हैं और इसी कारण इन जातियों के पुरुषों द्वारा इन्हें भोग की दृष्टि से देखा जाता है। आर्थिक दृष्टि से

निर्भरता और सामाजिक सुरक्षा के अभाव के कारण दलित स्त्री उच्च जाति के लोगों की काम वासना का शिकार अधिक होती हैं। विमल थोरात एक सर्वे के आधार पर इसको स्पष्ट करती हैं - 1981 से 1986 तक बलात्कार की शिकार दलित महिलाओं की संख्या लगभग 4,000 थी यानी कि प्रत्येक वर्ष लगभग 350 अर्थात् हर दिन एक। 1993 में यह संख्या बढ़कर 798 हो गई और 1994 में 993 यानी रोज दो से तीन बलात्कार। उत्तर प्रदेश और राजस्थान में ये घटनाएं अधिक हुईं। तब से लेकर आज तक इसकी संख्या में दस गुना वृद्धि हुई है।

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति एक बहुत बड़ा सच है। विद्वेष और वैमनस्यता के विकास में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यही कारण है कि इसका दंश और उत्पीड़न महिलाओं में केवल दलित महिलाओं को झेलना पड़ता है। हम चाहे जितना भी कह लें कि जातिगत समस्याएं समाप्त हो चुकी हैं, लोगों के अंदर

*दलित स्त्री विमर्श तिहरे शोषण की शिकार दलित स्त्री के दग्ध जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति में जाति अपमान, तिरस्कार, यौन हिंसा, पितृसत्ता और गरीबी से मुक्ति के प्रश्नों को खड़ा करता है। दलित स्त्री लेखन मनु निर्धारित नैतिकता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का तीखा विरोध करता है।*

अब जातिगत भेदभाव नहीं है, यह नष्ट होता जा रहा है, किंतु सच्चाई यह नहीं है। जाति अपनी जड़ें और गहरे रूप में जमाती जा रही है। इसलिए आज भी गांवों में बहुत सी दलित महिलाओं को डायन करार दे कर नंगा घुमाया जाता है। उनकी झोपड़ियां और बस्तियां जला

दी जाती हैं। डॉ. प्रकाश लुईस ओर कमलकांत लिखते हैं, “भंवरीबाई का संदर्भ ताजा हो जाता है जो मर्दवाद और वर्णवाद दोनों का शिकार रही। दलित महिलाओं पर हुए अत्याचारों की घटनाओं में भंवरीबाई की घटना ऐसी है, जिसे राजस्थान के जाति अहंकार के इतिहास में दर्ज किया जा सकता है।”

## मनु की दमघोटू व्यवस्था

भारतीय समाज में दलित महिलाओं की स्थिति सवर्ण महिलाओं की अपेक्षा अधिक दयनीय और शोचनीय है। भारतीय समाज का यह महत्वपूर्ण वर्ग आज भारत की आजादी के कई सदी बीत जाने पर भी दलितों का दलित बना हुआ है। दलित महिलाओं की इस दुर्दशा के पीछे सबसे बड़ा कारण हिंदू धर्म में अंधविश्वास एवं रूढ़ियों



का होना है। मनु को हिंदू धर्म का संस्थापक माना जाता है, जिसने हिंदू धर्म में ब्राह्मणवादी एवं स्त्री-विरोधी पारंपरिक मान्यताओं को स्थापित किया। उसने स्त्रियों तथा शूद्रों को उनके विशेष अधिकारों से हीन रखा। 'मनुस्मृति' में मनु ने स्त्री की स्वाधीनता को अस्वीकार किया है और स्त्री देह की पवित्रता को स्त्री की उच्च, उत्कृष्ट दैवीय छवि की अनिवार्य शर्त बताया है। इसीलिए पितृसत्ता ने स्त्री पर वर्चस्व के लिए परिवार संस्था की अक्षुण्णता और सामाजिक संरचना के स्थायित्व की मुख्य शर्त में स्त्री की यौन शुचिता को रखा है। भारतीय समाज में पितृसत्ता की प्रधानता के कारण स्त्री को हमेशा निम्न माना गया है। दलित नारी का शोषण यहीं पर होता है। दलित पुरुष भी मनु की आचार संहिता को ही अपने घर में अपनी पत्नियों पर लागू करते हैं। इसी कारण दलित स्त्री विकास के मार्ग तक नहीं पहुंच पाती है। स्वरूप रानी के शब्दों में -

'मेरी जिंदगी सचमुच में  
मेरी कब हो पाई?  
घर में पुरुष सत्ता के अधीन हूँ  
और बाहर जाति की सत्ता के।'

विवाह संस्था की दमनकारी संरचना स्त्री को आर्थिक सुरक्षा देने से इंकार करती है क्योंकि यही आर्थिक अधीनता स्त्री की पितृसत्ता पर निर्भरता सुनिश्चित करती है। पितृसत्ता

व्यवस्था में परिवार का मुखिया पुरुष होता है किंतु परिवार की संपूर्ण जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही होती है।

दलित स्त्रियां ज्यादातर श्रमशील होती हैं। परिवार का भरण-पोषण करने के लिए दिनभर घर से बाहर जाकर मजदूरी करती हैं। इसके बावजूद घर की भी पूरी जिम्मेदारी उनके ही हाथों में होती है। फिर भी वे अपने पति के हाथों पिटती हैं। उसे अपने समाज में उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। दलित चिंतक डॉ.धर्मवीर ने दलित स्त्रियों पर यह आरोप लगाया है- "दलित औरतें संस्कार से व्यभिचारी होती हैं। इसके अतिरिक्त वेश्या, कामाचारी, व्यभिचारी और जारकर्म में निरंतर रत रहने वाली होती हैं।"

### दलित स्त्री की कलम

इधर अलग से जो दलित स्त्री विमर्श की गूँज सुनाई दे रही है उसके अपने कुछ खास मुद्दे हैं। उनका मुद्दा यह है कि उनकी पीड़ा, अपमान, यातना और शोषण के इतिहास को न तो सवर्ण स्त्रियां उठा रही हैं और न ही दलित पुरुष उठा रहे हैं। यही कारण है कि दलित स्त्रियां अपनी पीड़ा के अनुभवों और शोषण के इतिहास को अपने शब्दों में स्वयं रच रही हैं। इसके लिए दलित स्त्रियां स्वयं आत्मकथा लेखन कर रही हैं जिसमें उनकी पीड़ा, यातना, जाति के भयावह दंश आदि का सच्चा इतिहास है। कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा - 'दोहरा अभिशाप', बेबी कांबले का 'जीना आमुचा', उर्मिला पवार का 'छोरा कुल्हाटी का' तथा अभी हाल में प्रकाशित सुशीला टाकभौरे का 'शिकंजे का दर्द' आदि दलित महिला रचनाकारों की प्रमुख आत्मकथाएं हैं।

इसके अतिरिक्त दलित लेखिकाओं में अनीता भारती का 'एक थी कोटेवाली', रजत रानी मीनू की 'हम कौन हैं?' आदि कहानी संग्रह दलित स्त्री लेखन के लिए एक आगाज है। ये कहानियां दलित स्त्री समाज के शोषण का सच्चा चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं।

दलित महिला रचनाकार अपनी रचनाओं में मनु द्वारा लादी गई पुरुष वर्चस्व की सत्ता के विरोध में सवाल उठाती हैं। जाति, लिंग और वर्ग आधारित तिहरे शोषण को झेलती दलित स्त्री उन विषमताओं और नैतिक मूल्यों को नकारती हैं जो पुरुष के लिए अलग मापदंड और स्त्री के अलग मापदंड प्रस्तुत करते हैं।

दलित स्त्री विमर्श ने समाज की वर्जनाओं निषेधाज्ञाओं को लांघते हुए ब्राह्मणवादी व्यवस्था के

आधारस्तंभ पितृसत्ता, धर्म और जातीयता को कड़ी टक्कर दी है। चाहे वह चिंतन का क्षेत्र हो अथवा संघर्ष का, दोनों स्तरों पर उसने अपने अस्तित्व व अस्मिता की लड़ाई को प्राचीन काल से लेकर आज तक जारी रखा है। स्त्री आंदोलन का आरंभ हम 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से देखते हैं जबकि दलित महिला आंदोलन के बीज भारत में बहुत पहले से ही पड़ते हुए मिलते हैं। दलित नारीवादी आंदोलन की शुरुआत हम बौद्धकाल से मानते हैं। थैरी गाथाओं (73 बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा व्यक्त किए गए उद्गार) में हमें दलित स्त्री विमर्श का स्वर सुनाई पड़ते हैं। थैरी सुमंगला और पूर्णिमा दासी दलित वर्ग से थीं। उनकी

कविताओं में नारीवाद की सशक्त अभिव्यक्ति दिखाई देती है। सुमंगला की कविताओं में उन्मुक्त स्त्री के स्वर सुनाई देते हैं-

'मुक्त हूं मैं, मुक्त  
धान कूटने से पिंड छूटा  
देगची से भी  
मैं कितनी प्रसन्नचित हूं  
अपने पति से घृणा हो गई है  
उसकी छत्रछाया को  
मैं अब बर्दाश्त नहीं कर सकती।'

पति की मार से पीड़ित सुमंगला मुक्ति का मार्ग ढूंढती नजर आती है। इस प्रकार देखें तो बौद्धकाल में ही हमें दलित स्त्री विमर्श की आहट सुनाई पड़ती है।

## घरेलू हिंसा और सामाजिक हिंसा

दलित स्त्री लेखन ने सामान्य स्त्री विमर्श से अलग दलित विमर्श की आवश्यकता के पक्ष में मजबूत तर्क दिए हैं। दलित महिला आंदोलन की खासियत है कि वह अपनी मुक्ति के सवाल को सामाजिक और आर्थिक प्रश्न से जोड़कर देखता है। दलित महिला आंदोलन के लिए घरेलू हिंसा के साथ सामाजिक-आर्थिक हिंसा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि दलित महिलाएं रोज-रोज गांवों-शहरों में, खेतों में अपमान-शोषण-अत्याचार की शिकार

होती हैं। दुःख की बात है कि इस सामाजिक हिंसा के सवाल को महिला आंदोलन उस प्रतिबद्धता से नहीं उठाता जितना कि घरेलू हिंसा को।

सबसे बड़ी जो खाई दिखाई देती है वो लेखन और मुद्दों में अंतर को लेकर है। अभी के सवर्ण स्त्री और दलित पुरुष लेखन पर एक नजर डाली जाए तो हमें वहां देवदासी

*दलित महिला आंदोलन के लिए घरेलू हिंसा के साथ सामाजिक-आर्थिक हिंसा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि दलित महिलाएं रोज-रोज गांवों-शहरों में, खेतों में अपमान-शोषण-अत्याचार की शिकार होती हैं। दुःख की बात है कि इस सामाजिक हिंसा के सवाल को महिला आंदोलन उस प्रतिबद्धता से नहीं उठाता जितना कि घरेलू हिंसा को।*

के नाम पर दलित महिलाओं के शोषण, उन्हें डायन-चुड़ैल करार देकर सरेआम पूरे समाज में निर्वस्त्र करके घुमाना, उनको पत्थर से पीटना आदि मुद्दे कहीं नहीं दिखाई देते। भारतीय महिला आंदोलन के लिए दलित महिलाओं के मुद्दे जैसे मंदिर, पानी की लड़ाई, सामाजिक यौन शोषण, अस्पृश्यता कोई अहमियत

नहीं रखते। मंदिर और पानी के मुद्दे उनके आंदोलन और लेखन के केन्द्र इसलिए कभी नहीं बने क्योंकि जन्म से ही जाति के आधार पर ये सुविधाएं उन्हें प्राप्त हैं। नारीवादी विचारकों का मानना है कि जाति का सवाल उनके आंदोलन को तोड़ देगा जबकि दलित महिलाओं का मानना है कि दलित महिलाओं को जोड़ने से ही नारी आंदोलन और सशक्त बनेगा।

## नारीवादी आंदोलन की सीमा

आज हम महिला आरक्षण की बात करते हैं। संसद में 33 फीसदी महिला आरक्षण पास होने की बात की जा रही है। किंतु प्रश्न यह है कि अगर यह विधेयक पास हो जाएगा तो इससे किस वर्ग की स्त्रियों को सबसे ज्यादा फायदा होगा? इसी बहस में यह विधेयक अभी भी अटका पड़ा है। दलित स्त्रियों का मानना है कि वे पहले से ही पिछड़ी हुई हैं। उनकी चिंता यह है कि अगर यह विधेयक पास हो गया और उनको हिस्सा नहीं मिला तो वे मूलधारा से पिछड़ जाएंगी। उनकी चिंता सही भी है क्योंकि सदियों से ऐसा ही होता आया है। एक सवर्ण स्त्री अपनी जातिगत भावनाओं के कारण एक दलित स्त्री को वैसे ही प्रताड़ित करती है जैसे एक सवर्ण पुरुष दलित पुरुष को प्रताड़ित करता है। इन सभी मुद्दों को दलित स्त्री रचनाकारों ने अपने लेखन में अभिव्यक्ति दी है।

हिन्दी साहित्य में कई लेखिकाएं इस विमर्श हेतु अपनी लेखनी से समाज को अवगत करा रही हैं। दलित स्त्री लेखन अपनी अस्मिता को लेकर संघर्ष करता है। अभी तक सामान्य स्त्री लेखन और दलित लेखन में उसकी अस्मिता और संघर्ष की अवहेलना की गई थी किंतु दलित स्त्रियों ने अपने लेखन के माध्यम से इसे सामने लाने की कोशिश की है। दलित विमर्श के भीतर यह मुद्दा लगातार चलता रहा है कि दलित स्त्रियां उपेक्षितों में भी उपेक्षित हैं। वे दोहरे शोषण का शिकार हो रही हैं। एक तो वह जाति का दंश झेल रही है, दूसरा स्त्री होने का दंश भी। दलित लेखिकाओं ने अपने इस दुख को जब-तब बयां भी किया है। सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, अनीता भारती, तारा परमार, सुमित्रा मेहरौल, कावेरी, विमल थोरात, रजनी रानी मीनू, कौशलया बैसंत्री, हेमलता महेश्वर, रजनी दिसोदिया, कौशल पंवार, पूनम तुषामड आदि ऐसी दलित लेखिकाएं हैं, जिन्होंने दलित स्त्री की अस्मिता और अस्तित्व को बहुत ही बारीकी से अपनी रचनाओं में दर्ज किया है। इन सभी दलित महिला रचनाकारों ने साहित्य की सभी विधाओं - आत्मकथा से लेकर कविता, कहानी, नाटक,

एकांकी तक में सदियों से उत्पीड़ित, शोषित दलित महिला समाज की सच्ची कहानी को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है।

सदियों के संताप, उत्पीड़न और यातना से दलित स्त्री का अंतर्मन विचलित हो उठा है। वह प्रतिकार करती है और उस पूरी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह कर उठती है। इसीलिए तो सुशीला टाकभौरे अपनी कविता में कहती हैं :-

‘आज यह खुद्दार औरत  
अपने आप को पहचान गई है  
इसे यूँ न सताओ  
वरना यह भी  
नंगेपन पर उतर आएगी  
तुम्हारे सर्वस्व को नकार कर  
तुम्हें नीचा दिखाएगी।’

आज की दलित लेखिकाएं अपनी सदियों से हो रही उपेक्षा से बहुत आहत और दुःखी हैं किंतु उन्होंने अपनी होती आई उपेक्षा को अब समझ लिया है। उनके अंदर चेतना के बीज प्रस्फुटित होने लगे हैं और यह उनकी चेतना ही है कि वे अपने दुःख और अतीत को बहुत ही सार्थक और बेबाक ढंग से अपनी रचनाओं में विभिन्न विधाओं के माध्यम से अभिव्यक्त कर रही हैं।

इस प्रकार समग्रता में आज दलित साहित्य के बरअक्स दलित स्त्री विमर्श को एक चुनौती के रूप में देखा जा सकता है। दलित महिला लेखकों की यह घोषणा है कि इससे पहले रचा गया सामान्य स्त्री लेखन हो या दलित साहित्य हो उसमें दलित स्त्री जीवन के उत्पीड़न, संताप और प्रतिरोध की गाथा तथा उसकी अस्मिता को दरकिनार किया गया है, जबकि दलित साहित्य संपूर्ण मनुष्य समाज की मुक्ति, समता, स्वतंत्रता और बंधुता का मूलमंत्र लेकर चलता है। अंत में निर्मला पुतुल के शब्दों में

‘मैं चाहती हूँ  
आंख रहते अंधे आदमी की  
आंख बने मेरे शब्द,  
उनकी जुबान बने  
जो जुबान रहते गूंगे बने देख रहे हैं तमाशा  
चाहती हूँ मैं,  
नगाड़े की तरह बजें मेरे शब्द  
और निकल पड़े लोग  
अपने-अपने घरों से सड़कों पर।’

### वार्ता के पुराने अंक

इटारसी से सामयिक वार्ता के छह अंक प्रकाशित हो चुके हैं। यह सातवां अंक है। कुछ साधियों ने इन अंकों की मांग की है। पहला अंक सीमित संख्या में है, बाकी अंकों की प्रतियां पर्याप्त संख्या में हैं। यदि आपको ये अंक चाहिए तो हम डाक से भेज सकेंगे।

एक अंक का मूल्य 20 रुपए है। साधारण डाक से मंगाने के लिए 10 रुपए और रजिस्टर्ड डाक के लिए 20 रुपए आपको जोड़ना पड़ेंगे। इस राशि को आप चाहे तो डाक टिकिटों के रूप में भी हमें भेज सकते हैं। मनीऑर्डर करें तो पूरा पता अलग से जरूर भेज दें। बैंक भेजें या बैंक ट्रांसफर करें तो दस रुपए जोड़ दें।

प्रबंधक 09993737039

# तृणमूल का सीपीएम बन जाना

परिमल दत्ता

पश्चिम बंगाल का पंचायत चुनाव एक तरह का रिप्ले था। जो काम पहले सीपीएम करती थी, अब तृणमूल कांग्रेस करने लगी है। पश्चिम बंगाल की राजनीति और समाज दोनों का सीपीएमीकरण हो चला है। हिंसा, आतंक और सत्ता के दुरुपयोग की खास संस्कृति जड़ जमा रही है, जो चिंताजनक है।

पश्चिम बंगाल में पंचायत चुनाव के पहले, चुनाव के दौरान और चुनाव के नतीजे घोषित होने के बाद जो सारे कर्म और कांड हुए उसे सीपीएम ( भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी- मार्क्सवादी ) की विकसित की गई संस्कृति को आगे बढ़ाना ही कहा जा सकता है। सीपीएम ने कौन सी संस्कृति बनाई और वह किस तरह उसे बाकी दलों से 'विशिष्ट' बनाती है, यह लंबे शोध का विषय है। लेकिन समय-समय पर ममता बनर्जी उसमें किस-किस तरह के नए आयाम जोड़ रही हैं, इसकी कुछ झलक पंचायत चुनाव में देखने को मिली।

पश्चिम बंगाल में तीन स्तर का पंचायत चुनाव होता है जिसमें गांवों के लोग तीन स्थानीय सरकारों के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं ग्राम पंचायत, प्रखंड ( ब्लॉक ) स्तर पर पंचायत समिति और जिला परिषद। स्वराज की इस व्यवस्था के पीछे मूल भावना सत्ता का विकेंद्रीकरण और लोकतंत्र को एकदम नीचे स्तर तक पहुंचाने की रही है। 1977 में बंगाल में वाममोर्चा सरकार आने के बाद यह पंचायत व्यवस्था पहली बार यहां लागू की गई और 1978 में इसके लिए पहला चुनाव हुआ। सरकार भले ही तकनीकी तौर पर वाममोर्चा की रही लेकिन धीरे-धीरे वह सीपीएम की सरकार बनती गई और लोगों में इसी रूप में ख्यात हुई। सीपीएम के नेतागण आज भी इस पंचायती व्यवस्था को लागू करने का श्रेय लेते रहते हैं।

1978 से लेकर अब तक ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद पर सीपीएम का आधिपत्य रहा। ममता बनर्जी अपने खास हाव-भाव और अपनी विशेष जुबान से पंचायत

चुनाव में जीतने की खुद की लालसा को 'फाइनल जीतने' के रूप में व्यक्त करती रही हैं। वैसे भी अलग-अलग चुनावों को कभी क्वार्टर फाइनल, कभी सेमीफाइनल तो कभी फाइनल के रूप में देखने की उनकी आदत रही है। अभी उन्होंने फाइनल जीत लिया है। उन्हीं की सरकार के पंचायत मंत्री सुब्रत मुखर्जी ने पंचायत चुनाव के नतीजों की घोषणा के बाद प्रसन्न मुद्रा में कहा कि अब जाकर वृत्त संपूर्ण हुआ। मुखर्जी के कहने का तात्पर्य यह था कि लोकसभा चुनाव (2009), नगरपालिका चुनाव (2010), विधानसभा चुनाव (2011) और अंततः पंचायत चुनाव। सुब्रत मुखर्जी को संपूर्ण होता वृत्त जहां दिखाई पड़ रहा है वहीं आम लोगों को वृत्त कहीं और पूरा होता दिखाई पड़ रहा है और इसका पूरा होना एक छोटी सी कहानी बनती है।

## चुपचाप फूल छाप

पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी की पार्टी का नाम तृणमूल कांग्रेस है। निर्वाचन आयोग के पंजीकरण के मुताबिक ऑल इंडिया तृणमूल कांग्रेस और उसका चुनाव चिन्ह घास एवं फूल है। राज्य में 2006 के विधानसभा चुनाव के दौरान एक नारा खूब चला। पता नहीं उस नारे की शुरुआत कैसे हुई थी लेकिन तृणमूल के नेताओं की जुबान से अधिक वह लोगों की जुबान पर चढ़ गया था। ममता बनर्जी भी मंच से अपने भाषण के दौरान वह नारा दुहराया करती थीं। वह नारा था- 'चुपचाप फूल छाप'। यानी चुपचाप, फूल में मुहर लगाएं। तब बंगाल के मुहल्ले-मुहल्ले और गांव-गांव में सीपीएम का ऐसा राज था

पता:

पानीहाटी, सोदपुर,  
उत्तर चौबीस परगना,  
पश्चिम बंगाल।

कि कोई भी काम उनकी बिना इजाजत के संभव न था। विरोधी राजनैतिक पार्टियों के लिए चुनाव में उम्मीदवार खड़ा करना मुश्किल होता था। चुनाव केंद्रों पर विरोधी दलों के चुनाव एजेंटों को भगा देना, वोटों को डराना-धमकाना, वोट की लाइन से निकालना और अंततः अपने लोगों को भी सामने वोट डालने के लिए बाध्य करना ताकि देखा जा सके कि कौन कहां वोट डाल रहा है, यह सब खुलेआम चलता था।

हां, यह बात जरूर है कि बंगाल में सीपीएम के बार-बार चुनाव जीतने और चौंतीस वर्षों तक शासन में रहने का यह एकमात्र कारण नहीं था। उसका जनाधार तो था ही। वह जनाधार क्या था और कैसे चौंतीस वर्षों में धीरे-धीरे वह बदलता गया, इसे भी देखने समझने की कोशिश होती रही है और अब शायद कुछ ज्यादा ही हो। बहरहाल, 'चुपचाप फूलछाप' वाले नारे का निहितार्थ और उसमें छुपा निवेदन पूरी कहानी बयान करता है कि जब आतंक और निगरानी का ऐसा आलम हो तो उसमें खुद को जाहिर किए बगैर चुपचाप अपना काम कर जाओ।

2006 के विधानसभा चुनाव में सीपीएम न सिर्फ जीती बल्कि उसकी सीटों की संख्या भी पहले से काफी बढ़ गई। 2009 के लोकसभा चुनाव में सीपीएम को पहला धक्का तब लगा जब बंगाल की 42 लोकसभा सीटों में से वामफ्रंट को 15 और तृणमूल कांग्रेस और एसयूआई गठबंधन को कुल 27 सीटें मिलीं। 2010 में नगरपालिका चुनावों में भी ज्यादातर नगरपालिकाएं तृणमूल कांग्रेस के कब्जे में आईं। लेकिन राज्य में सीपीएम का शासन रहा और 'चुपचाप फूलछाप' का नारा चलता रहा। 2011 के विधानसभा चुनाव में सीपीएम का अवसान हुआ और कुल 295 विधानसभा सीटों में 235 सीटें तृणमूल और उसके सहयोगी दलों को मिलीं। उसके बाद वह नारा थम गया।

ममता सरकार के दो वर्ष से कुछ ज्यादा समय बीतते न बीतते तृणमूल का ही दिया हुआ एक नारा विरोधियों के हाथ लग गया। ममता सरकार के एक वर्ष पूरा होने पर तृणमूल के नेता, राज्यसभा सांसद और पूर्व रेलमंत्री मुकुल राय का एक लेख छपा था। उस समय तक कई-कई मुद्दों पर ममता की बयानबाजी और सरकार के रवैये के प्रति न सिर्फ विरोधी दल बल्कि लेखक- बुद्धिजीवी मुखर होकर आलोचना करने लगे थे। मुकुल राय के उस लेख का शीर्षक था- 'चोप, सरकार चोलछे' (चुप रहो, सरकार

चल रही है)। अभी ममता सरकार के विरोध में चाहे सीपीएम का जुलूस हो या किसी खास मुद्दे के प्रतिवाद में छोटे-बड़े संगठनों की ओर से निकाला गया या स्वतः स्फूर्त रूप से निकला कोई जुलूस हो, उन जुलूसों में भी यह नारा आ गया है। सरकार के विरोध में निकलने वाले जुलूस के बैनर पर लिखे जाने से अर्थ कितना बदल जाता है! वह कितना बड़ा उपहास बन जाता है! यहां एक और नारे का जिक्र किया जा सकता है जो सीपीएम के नारे की तर्ज पर बना था। वियतनाम युद्ध के वक्त सीपीएम का एक नारा था- तोमार नाम, आमार नाम, वियतनाम। नंदीग्राम में महिलाओं, बच्चों और किसानों पर गोली चलाए जाने की घटना और उसके बाद सीपीएम सरकार और पार्टी कैडरों की गुंडगर्दी के खिलाफ आंदोलन करने वालों ने तब सीपीएम के उस नारे की पैरोडी बनाई थी- 'तोमार नाम, आमार नाम, नंदीग्राम।' इस पैरोडी ने एक और ही वृत्त के पूरा होने को उजागर कर दिया था।

## राजनीति का सीपीएमीकरण

बंगाल के पंचायत मंत्री जिस वृत्त के संपूर्ण होने की बात कह रहे हैं उसके बरअक्स ममता बनर्जी और उनकी पार्टी की 'चुपचाप, फूलछाप' से 'चोप, सरकार चोलछे' तक की यात्रा में जो एक अन्य वृत्त पूरा होता दिखाई पड़ता है वह पूरी दास्तान बता जाता है। इस वृत्त को एक नाम भी दिया जा सकता है जिससे स्थिति को समझना थोड़ा आसान हो सकता है- तृणमूल का सीपीएम बन जाना। सवाल उठता है कि यह सीपीएम बन जाना क्या है? यह एक जरूरी सवाल है और इसे देखा-समझा जाना चाहिए। बंगाल में लगातार चौंतीस वर्षों के शासन में सीपीएम नाम (संज्ञा) की एक पार्टी ने अपने को किस प्रकार से एक विशेषण के रूप में परिणत कर दिया, इसे देखे-समझे बगैर न बंगाल की राजनीति को समझा जा सकता है और न ही वहां के समाज को। प्रकाश करात और सीताराम येचुरी जैसे बौद्धिक नेताओं की सुविधा के लिए एक शब्द गढ़ा जा सकता है- सीपीएमाइजेशन या सीपीएमीकरण। इसे दो भागों में बांट कर देखना चाहिए- विपक्ष का सीपीएमीकरण और समाज का सीपीएमीकरण।

बात चूंकि बंगाल के पंचायत चुनाव के संदर्भ में हो रही है इसलिए बाकी बातों को अलग से बताने की जरूरत होगी। यहां अभी इतना जरूर कहा जा सकता है कि ममता की पार्टी तृणमूल कांग्रेस ने पंचायत चुनाव के

पहले, चुनाव के दौरान और चुनाव के बाद जमकर सीपीएमिगिरी की। इस बार के चुनाव में ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद की कुल 56000 से कुछ अधिक सीटों में 5800 सीटों पर तृणमूल कांग्रेस निर्विरोध चुन ली गई। अर्थात् वहां कोई भी विरोधी उम्मीदवार खड़ा नहीं हुआ। ठीक इसी तरह 2008 के पंचायत चुनाव में लगभग 7000 सीटों पर सीपीएम निर्विरोध चुन ली गई थी।

इन तथ्यों का अलग से विश्लेषण करने की जरूरत नहीं क्योंकि ये अपने आप ही पूरी कहानी बताते हैं। इसलिए यहां एक दूसरी ही कहानी सुनाई जाए। पहले के पंचायत चुनाव में विरोधियों के उम्मीदवारों को डरा-धमकाकर उन्हें खड़ा नहीं होने देने का आरोप जब सीपीएम पर लगता था तो उसके नेताओं का बयान आता कि विरोधियों के लिए उम्मीदवार ढूंढने का काम भी क्या अब सीपीएम को करना पड़ेगा।

इस बार यही आरोप जब तृणमूल पर लगा तो तृणमूल के नेता सुब्रत मुखर्जी ने कहा कि सीपीएम के पास अगर उम्मीदवार नहीं है तो उसके लिए हम क्या कर सकते हैं। आपको कहीं कोई मेल दिख रहा है? अब

यह मेल देखिए- 2008 के पंचायत चुनाव में कुल 17 जिलों में 13 जिलों की जिला परिषद में सीपीएम को बहुमत मिला था। इस बार के चुनाव में तृणमूल को 13 जिलों की जिला परिषद में बहुमत हासिल हुआ है। सीपीएम के जमाने में छुटपुट ही सही लेकिन कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आया है कि मतदान के निर्धारित समय से काफी पहले सौ प्रतिशत मतदान हो जाया करता था। इस बार तृणमूल के जमाने में उत्तर चौबीस परगना जिले के आमडांगा प्रखंड के एक मतदान केंद्र पर दोपहर बारह बजे तक सौ प्रतिशत मतदान हो चुका था। हालांकि इस बार यह एकमात्र घटना थी और राज्य के निर्वाचन आयोग के निर्देश पर वहां दुबारा मतदान हुआ।

## सीपीएम-तृणमूल में समानता

पंचायत चुनाव में सीपीएम-तृणमूल के बीच जो समानता स्पष्ट तौर पर देखने को मिली उसे संयोग नहीं

कहा जा सकता। उसे पीछे के तर्क और नियम को खोजने की कोशिश में उस संस्कृति को समझना होगा जो सीपीएमीकरण की प्रक्रिया में विकसित हुई है। यह कैसे हुआ कि जो-जो इलाके सीपीएम की बदमाशियों के लिए चर्चा में रहे आज उन्हीं-उन्हीं इलाकों में तृणमूल की बदमाशियां देखने को मिल रही हैं। ऐसे ही इलाकों में उत्तर चौबीस परगना जिले में शासन नाम का एक इलाका है। वहां सीपीएम के जिला स्तर के एक दमदार नेता मजीद मास्टर की, दम दिखाने के मामले में कीर्ति रही है। इस बार पंचायत के चुनाव में मजीद मास्टर अपना वोट डालने नहीं जा सके। उनका आरोप है कि उन्हें वोट डालने न जाने के लिए डराया-धमकाया गया था और उन्हें पुलिस और प्रशासन पर भरोसा नहीं था। मजीद मास्टर का वोट डालने न जा पाना अखबारों की सुर्खियां बनी तो इसलिए कि वह कोई साधारण मतदाता नहीं थे।

*प्रकाश करात और सीताराम येचुरी जैसे बौद्धिक नेताओं की सुविधा के लिए एक शब्द गढ़ा जा सकता है- सीपीएमआइजेशन या सीपीएमीकरण। इसे दो भागों में बांट कर देखना चाहिए- विपक्ष का सीपीएमीकरण और समाज का सीपीएमीकरण।*

सीपीएमीकरण की प्रक्रिया में जो बातें हुईं उनमें से मोटे तौर पर दो बातों का जिक्र यहां किया जा सकता है। सीपीएम ने पार्टी और सरकार का भेद मिटा दिया था। उसने पुलिस और प्रशासन का उपयोग पार्टी के स्वार्थ में किया था।

विभिन्न सरकारी विभागों और स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी से लेकर ऊपर के पदों पर किसकी नियुक्ति होगी, यह पार्टी तय करती थी। मुहल्ले-मुहल्ले और गांव-गांव में उसने एक विशेषाधिकार प्राप्त और सुविधाभोगी वर्ग का एक तंत्र विकसित किया जो पार्टी की छत्रछाया में पलता रहा। इसमें अपराधी, प्रमोटर, ठेकेदार से लेकर साधारण बेरोजगार तक शामिल थे। इस तंत्र ने समाज को तरह-तरह से नियंत्रित करने की कोशिश की। सत्ता में आने के बाद तृणमूल ने सीपीएम द्वारा धीरे-धीरे तैयार किए गए उस तंत्र पर कब्जा जमा लिया। उस तंत्र का जो चरित्र था उससे उसका यही धर्म बनता है कि वह सत्ता के साथ रहे। लेकिन सीपीएम अपने सांगठनिक ढांचे के कारण उस तंत्र को नियंत्रित कर सकता था जो तृणमूल के लिए संभव नहीं। एक दूसरा बड़ा फर्क यह भी है कि सीपीएम ने पार्टी और सरकार का भेद मिटा दिया था तो ममता

बनर्जी ने सरकार और सल्तनत का भेद मिटा दिया है। लेकिन चाहे सरकार हो या सल्तनत, सत्ता तो दोनों ही जगह बसती है, इसलिए किसी भी तरह सत्ता को बनाए रखने की कामना और उसके लिए जरूरी क्रियाकलापों के मामले में सीपीएम-तृणमूल एक हैं।

## हिंसा की संस्कृति

पंचायत चुनाव को लेकर पश्चिम बंगाल सरकार और राज्य चुनाव आयोग के बीच के विवाद का मामला सुप्रीम कोर्ट तक गया। विवाद दो मुद्दों पर था। चुनाव आयोग का कहना था कि भयमुक्त और निष्पक्ष मतदान के लिए चुनाव चार चरणों में कराया जाए और सुरक्षा के लिए राज्य की पुलिस के साथ-साथ केंद्रीय सशस्त्र बल को लगाया जाए। सरकार का कहना था कि चुनाव दो या अधिक से अधिक तीन चरणों में हो और केंद्रीय सशस्त्र बल की कोई आवश्यकता नहीं, सुरक्षा के लिए राज्य की पुलिस ही काफी है। इससे पहले के पंचायत चुनावों में ममता बनर्जी हमेशा केंद्रीय सशस्त्र बल की निगरानी में चुनाव कराए जाने की मांग करती रही हैं और सीपीएम उसका विरोध करती रही है। इस बार सीपीएम ने केंद्रीय सशस्त्र बल का समर्थन किया। यहां देखने की बात यह है जब समाज इतना निर्लज्ज नहीं हुआ तो उसी समाज में पलने-बढ़ने वाले नेतागण निर्लज्जता की यह ऊंचाई कहां से प्राप्त करते हैं? अंततः अदालत के निर्देश के मुताबिक चुनाव पांच चरणों में और केंद्रीय सशस्त्र बल की उपस्थिति में हुआ।

इस सबके बावजूद चुनाव के पहले, चुनाव के दौरान और नतीजों की घोषणा के बाद जिस तरह की

हिंसा देखने को मिली, उसने भी कई सवाल खड़े किए। इस बार की चुनावी हिंसा में 27 लोगों की जानें गईं तो यह कहा जाने लगा कि पहले की तुलना में इस बार चुनाव अधिक शांतिपूर्ण तरीके से संपन्न हुआ। हवाला दिया जाने लगा 2008 के पंचायत चुनाव का जिसमें 50 से अधिक जानें गई थीं और 2003 के पंचायत चुनाव का जिसमें सौ से अधिक लोग मारे गए थे। मौतों की संख्या से हिंसा की व्यापकता को समझना एक कसौटी बन गई है। इस तरह देखने में हमारी संवेदनहीनता तो जाहिर होती ही है, हमारा अंधापन भी प्रकट होता है। लेकिन उससे भी भयानक होता है जब हम लोकतंत्र को सिर्फ चुनाव तक ही सीमित मानने लगते हैं और चुनाव को ही लोकतंत्र की प्रतिष्ठा का एकमात्र जरिया मानते हैं। इस क्रम में सरकार, विरोधी दल, चुनाव आयोग, मीडिया, बुद्धिजीवियों और साधारण लोगों के बीच जब यह बहस चल रही होती है कि मताधिकार को सुनिश्चित करने के लिए चुनाव कितने चरण में होने चाहिए, पुलिस और सशस्त्र बलों की संख्या कितनी होनी चाहिए, तब इस बहस के बीच भी हिंसा विराजमान रह जाती है। अर्थात् हिंसा 'ऑफिशियल' हो जाती है, सर्वमान्य बन जाती है।

भारतीय राजनीति में हिंसा का बोलबाल दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। बंगाल की राजनीति भी हिंसा लीला में आकंठ डूबी हुई है। फिर भी जो बात बंगाल की राजनीति को अन्य प्रांतों से अलग करती है और कुछ अधिक भयावह बनाती है, वह है यहां सीपीएमीकरण के कारण विकसित हुई संस्कृति। इस संस्कृति में सीपीएम ही नहीं विरोधी भी रम जाते हैं।

### सूचनाएं

यदि आप वार्ता का शुल्क मनीऑर्डर से भेज रहे हैं, तो कृपया अपना पता अलग से (डाक से, एसएमएस से या ईमेल से) जरूर भेज दें। आजकल मनीऑर्डर इलेक्ट्रॉनिक तरीके से आने के कारण पूरा और स्पष्ट पता नहीं मिलता है।

यदि आप वार्ता का शुल्क सीधे बैंक खाते में जमा कर रहे हैं, तो कृपया हमें सूचना जरूर दें। अपना पता अलग से हमें भेज दें।

यदि आप सामयिक वार्ता के ग्राहक हैं और आपको वार्ता नहीं मिल रही है तो कृपया निम्न जानकारी हमें दें: ग्राहकी का प्रकार (वार्षिक, पांच वर्षीय या आजीवन), आप कब ग्राहक बने थे, आपको किसने बनाया था, आपको कब से वार्ता नहीं मिल रही है, क्या आपका पता बदला है (यदि बदला है तो नया पता)।

### ग्राहकी का नवीनीकरण

आपका शुल्क समाप्त होने की सूचना वार्ता में एक परची रखकर आपको भेजी जाती है। वार्ता मिलना बंद न हो, इसलिए शीघ्र नवीनीकरण करवाएं। नवीनीकरण की झंझट से बचने के लिए यदि आप इकट्ठा दो वर्ष (200 रु.), पांच वर्ष का (600 रु.) या आजीवन शुल्क (2000 रु.) जमा कर सकते हैं, तो बेहतर है।

-प्रबंधक

फोन 09993737039



# एक थे पेटी मास्टर

प्रीतिश आचार्य

1

पश्चिम ओड़िशा के देहाती अंचल में एक वक्त शिशुपाल साहु के नाटकों की धूम थी। देहाती जीवन के साथ घुली-मिली, बिना ज्यादा खर्च की, साधारण ग्रामीणों की भागीदारी वाली सामुदायिक मनोरंजन की यह विधा भूमंडलीकरण के आगमन के साथ लुप्त हो गई। एक शब्दचित्र। ओड़िया से हिंदी में अनुवाद स्वयं लेखक ने किया है।

प्रीतिश आचार्य ओड़िया भाषा के जाने-माने लेखक व कहानीकार हैं। भुवनेश्वर में स्थित क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान में इतिहास के प्राध्यापक हैं।

**पता:** क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, सचिवालय मार्ग, भुवनेश्वर, ओड़िशा  
पिन: 751022

**फोन :** 09937400923

pritishacharya0123  
@yahoo.co.in

पचहत्तर साल की उमर में शिवलाल साहु चल बसे। उनकी इच्छा से एक सभा का आयोजन किया गया था, उसके दो दिन पहले ही। सभा में दिए जाने वाले मानपत्र छप गए थे। निमंत्रण कार्ड बंट चुके थे। टेंट हाउस को एडवांस भी दे दिया गया था। पर ऐन पहले शिशुपाल साहु को यम का बुलावा आ गया।

दस-पंद्रह दिन पहले शिशुपाल साहु ने अपने बेटे को पास बैठाकर कहा था- अब और ज्यादा दिन बचूंगा नहीं। मेरे जाने से पहले एक सभा बुलाओ, उसमें मैं अपने साथ काम किए हुए सभी कलाकारों को मानपत्र दूंगा, उनसे मेरी आखिरी मुलाकात भी हो जाएगी। बेटे ने घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के बावजूद अपनी सामर्थ्य के हिसाब से बूढ़े बाप की आखिरी ख्वाहिश पूरी करने का सारा इंतजाम किया। बाप ने नेताओं और एमएलए को सभा में बुलाने से मना किया था सो बेटे ने अपने थाने के थानेदार को सभा का प्रधान होने का अनुरोध किया।

शिशुपाल साहु एक ग्रामीण कलाकार थे। वे नाटक लिखते थे, खुद उनका निर्देशन करते थे और उनमें साथ-साथ 'पेटी' भी बजाते थे। गांव के नाटकों में पेटी बजाने का विशेष महत्व होता था। 'पेटी' का मतलब हारमोनियम। पेटी बजाने वाले को 'पेटी मास्टर' कहा जाता, वह नाटक का एक ही साथ सूत्रधार और कर्णधार होता, चांदुआ (छोटा मंडप) के कोने में तबले वाले के साथ बैठ पेटी बजाता, गाना गाता और नाटक को संचालित करता, मंच पर कभी प्रकट नहीं होता- न प्रकट होना ही उसका धर्म था।

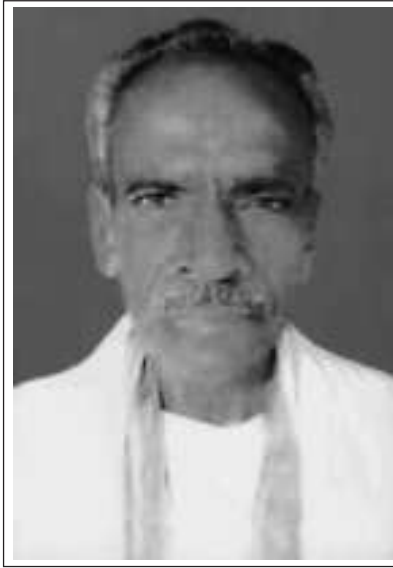
आज की महंगी जात्रा पार्टियों (नाटक मंडली) में 'पेटी मास्टर' का कोई महत्व नहीं रह गया है। कई तरह की टेकनोलॉजी आ जाने के बाद उसकी भूमिका लुप्त सी हो गई है। लेकिन पहले के ग्रामीण नाटकों की सफलता या असफलता पेटी मास्टर पर ही पूरी तरह निर्भर किया करती थी। नाटक मंडली को गांव के नाम से या पेटी मास्टर के नाम से जाना जाता था। शिशुपाल साहु अपनी नाटक मंडली के पेटी मास्टर थे।

पश्चिम ओड़िशा के बरगड़ जिले के सोहला थाने में डुमेरपाली एक छोटा सा गांव है, इतना छोटा कि पास के बड़े गांव गर्भणा का नाम लिए बिना उसका पता पाना कठिन था। शिशुपाल साहु ने इसी डुमेरपाली गांव में एक नाटक मंडली बनाई थी। यह मंडली 1956 से 1993 तक यानी 37 साल गांव-गांव जाकर नियमित नाटक खेला करती थी। सारे कलाकार थे गांव के लोग, किसान और आदिवासी। गांव छोटा सा था सो हर घर का पुरुष सदस्य नाटक मंडली का भी सदस्य था। कोई अभिनय करता, कोई नाटक से जुड़े छोटे-मोटे काम करता- चंदवा लगाना, पेट्रोमैक्स में तेल भरवाना, यात्राओं में बक्से ढोना आदि। प्रायः सभी अनपढ़, अपनी छोटी-मोटी खेती या मजदूरी करने के साथ-साथ कलाकार भी। नाटक मंडली का काम जब चल निकला तो उसका काम एक सहायक पेशा भी बन गया। दर्शकों से पुरस्कार में जो पैसे मिलते, आनुषंगिक खर्च को काट देने के बाद जितने बचे रहते, वे मंडली के सदस्यों के बीच बंट जाते- यह रकम कदाचित ही खेत मजदूरी की दिहाड़ी से ज्यादा होती।

पेटी मास्टर शिशुपाल साहु मंडली के अन्य सदस्यों की तरह किसान थे और नाटक मंडली के अन्य सदस्यों से उनका रिश्ता गांव का रिश्ता था - किसी के चाचा या जेटू (ताऊ) या बड़ मामू या छोट मामू। मंडली का हर सदस्य गांव के रिश्ते से एक दूसरे का सगा संबंधी। आज की 'जात्रा पार्टियों' (नाटक मंडली) या फिल्मों के निर्देशकों से 'पेटी मास्टर' की इस प्रकार के रिश्तों के कारण तुलना नहीं की जा सकती। उन दिनों नाटकों का खर्च भी क्या था? हारमोनियम, तबला, पेट्रोमैक्स और यात्रा-खर्च। पौराणिक या राजा-रानी वाली कहानी हुई तो कुछ गोटे वाली पोशाकें, जिन्हें कास्ट्यूम कहा जाता है। अगर नाटक सामाजिक हुआ तो उनकी भी जरूरत नहीं। नाटक का सारा साजो-सामान तीन-चार टिन के बक्कों में आ जाता।

नाटक मंडली गढ़ने में खर्च कम था, इसलिए गांव के लोग मंडली गढ़ पाते थे। दूसरे गांवों के लोग ऐसी मंडली को अपने गांव में बुला भी पाते थे। जिस मंडली का नाम हो जाता था उसे जगह-जगह से बुलावा आता था। डुमेरपाली गांव की नाटक मंडली और उसके पेटी मास्टर शिशुपाल साहु का नाम दूर-दूर तक फैल गया था। संबलपुर, बरगड़, बलांगीर और छत्तीसगढ़ के सीमावर्ती इलाकों जैसे सारंगढ़, रामगढ़, महासमुंद के बहुत सारे गांवों में मंडली ने नाटक खेले थे। नाटकों के चलते डुमेरपाली का नाम इतना अधिक हो गया था कि उसे पासवाले बड़े गांव गर्भणा के पुछल्ले की जरूरत नहीं रह गई थी। डुमेरपाली यानी पेटी मास्टर शिशुपाल साहु का गांव- एक दूसरे के पर्याय। डुमेरपाली को कलाकारों के गांव के रूप में जाना जाता था और उससे प्रेरणा प्राप्त कर दूर-दराज के गांवों के कलाकार शिशुपाल साहु के दल में शामिल होने को इच्छुक रहते थे।

शिशुपाल साहु का जन्म आज से पचहत्तर साल पहले 1938 में हुआ था। 1956 में उन्होंने बरपाली हाई स्कूल से मैट्रिक पास किया। संबलपुर में उन्हें किरानी की नौकरी भी मिली पर उसमें उनका मन नहीं लगा। गांव लौट आए और खेती करने के साथ-साथ एक नाटक



मंडली भी बना डाली। नाटक मंडली के लिए उन्होंने खुद नाटक लिखे। उनके नाटकों की कुल संख्या 21 है। कुछ नाटकों के नाम गरीब झिअ (गरीब की बेटी), पांच वर्षीय यम (यह चुनाव पर आधारित है), जनशक्ति, नारीशक्ति, भाई-भरुणी (भाई-बहन), अहिंसा-नीति, जनेटा बलब सेटा (जो बोलेगे वही), सीता चोरी (सीता अपहरण), नल दमयंती, हरिशचंद्र, भक्त प्रहलाद।

शिशुपाल के नाटकों की सफलता से प्रेरित होकर पश्चिम ओड़िशा के अन्य गांवों में भी ग्रामीणों ने नाटक मंडलियों का गठन किया। ऐसी नाटक मंडलियों की संख्या 71 थी। इन मंडलियों ने शिशुपाल साहु के नाटक भी खेले। शिशुपाल साहु को नाट्य गुरु कहा जाने लगा। 1960, 1970, 1980 के दशकों में पश्चिम ओड़िशा में तीन आंचलिक नाट्यगुरु प्रसिद्ध थे- कुम्हारी गांव के भगवान साहु, मनापारा गांव के राजेन्द्र साहु और डुमेरपाली के शिशुपाल साहु। खेती-बारी और नाटक दोनों एक दूसरे के साथ बाधक बने बिना चलते थे। यही इन ग्रामीण मंडलियों की खासियत थी।

उन दिनों चांदुआ (छोटे मंडप) के नीचे पेट्रोमैक्स की रोशनी में जब पुरुष कलाकार मूछें मुड़वाकर और मुंह पर पाउडर पोत कर स्त्रियों की भूमिका में उतरते थे तब दर्शक भूल जाते थे कि वे स्त्री नहीं पुरुष हैं। उन दिनों नाटक गांव के जीवन में प्राण भरने वाला मनोरंजन का एक सशक्त माध्यम था। बाद में 1990 के दशक से चमक-दमक वाली महंगी जात्रा पार्टियों, टीवी और वीडियो ने ग्रामीण मनोरंजन का रूप ही बदल डाला। नई जात्रा पार्टियों में स्त्री की भूमिका के लिए बाहर से पेशेवर स्त्रियों को बुलाया जाने लगा जिससे नाटकों का खर्च बढ़ गया। फिर भूमंडलीकरण के साथ मनोरंजन के कृत्रिम और बाहरी साधनों का गांवों में प्रवेश इतना बढ़ा कि चांदुआ के नीचे खेले जाने वाले नाटकों और उनकी मंडलियों की कोई कदर नहीं रह गई।

2

शिशुपाल साहु के इक्कीस नाटकों में से एक की

भी पांडुलिपि छपी हुई नहीं है। किसी संस्थान या अकादमी ने उन्हें कोई पुरस्कार या मानपत्र भी नहीं दिया है। जब मैं उनसे मिलने गया था तो मैंने कुछ नाटकों की पांडुलिपि सरसरी तौर पर देखी थीं। छोटे साइज की कॉपियों में पृष्ठों के दोनों तरफ नाटक लिखे गए थे। कहीं भी मार्जिन नहीं थी। नाटक लिखते समय कागज बचाने की मंशा एकदम प्रकट थी। वर्तनी की बेशुमार गलतियां थीं और हस्तलिपि भी स्पष्ट नहीं थी। उन पांडुलिपियों को प्रेस में देने के लिए उन पर काफी काम करना और उन्हें फिर से साफ-साफ लिखना जरूरी होगा।

कोई पांडुलिपि छपी नहीं, कोई पुरस्कार और मानपत्र कभी मिला नहीं, ऐसा अफसोस शिशुपाल साहु के पास फटका भी नहीं। जीवन की आखिरी ख्वाहिश के रूप में उन्होंने इतना ही चाहा था कि जिन लोगों के साथ मिलकर उन्होंने काम किया था, उनमें जितने लोग जीवित हैं, उनको बुलाया जाए और उन्हें वे स्वयं अपने हाथों से मानपत्र दें। गुरु की हैसियत से यदि वे इतना भी नहीं करेंगे तो उनका कर्तव्य पूरा नहीं होगा। “गुरु के लिए उन लोगों ने क्या नहीं किया? जब बेटी का विवाह था तो सारे लोग पहले से आ गए थे। विवाह का सारा काम उन्होंने अपने सिर ले लिया— कोई जलावन की लकड़ी चीर रहा था तो कोई सामान ढो रहा था, हर कोई कुछ न कुछ कर रहा था। रात को सब कहने लगे आपका नाटक खेलेंगे। उन लोगों के उत्साह को देखकर आज भी सिर झुक जाता है। जब कभी उनके गांव में जाना हुआ है, न जाने कितना प्यार और आदर मिला है उनसे। उन सारी नाटक मंडलियों को भंग हुए आज 25-30 साल हो गए होंगे पर आज भी जाओ तो वही राजा जमींदार का सम्मान मिलता है। इससे ज्यादा क्या चाहिए जिंदगी में?”

कृतज्ञता से आप्लावित शिशुपाल साहु ने अपने साथी कलाकारों को सभा का आयोजन कर मानपत्र देना चाहा था। निमंत्रण कार्ड और मानपत्र छपवाए थे। छपाई जगत से परिचय बनाने का उनका यह पहला प्रयास था, जिसके पूरा होने के दो दिन पहले ही 17 मई, 2013 को वे चल बसे।

शिशुपाल साहु के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी भाषा है। नाटक के पात्र शुद्ध ओड़िया नहीं बोलते थे। वे पश्चिमी ओड़िया की स्थानीय बोली बोलते थे और बोलचाल में काम आने वाले शब्द बरतते थे। एक

प्रकार की खिचड़ी भाषा होती थी यह। इस प्रकार की भाषा होने के कारण पात्र अपने हिसाब से संवाद बोलते और संवाद भूलने पर अपने आप संवाद बना डालते। नाटकों की दूसरी विशेषता थी उनकी सामाजिक प्रासंगिकता। कई नाटकों का विषय पौराणिक होने के बावजूद उनमें प्रसंगवश सामाजिक मुद्दे अपने आप आ जाते। नाटकों का श्लेष और व्यवस्था के प्रति आक्रोश इतना प्रबल था कि कई बार पूरी मंडली को पुलिस पकड़कर ले गई और उन्हें पुलिस हिरासत में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

चार साल पहले 2009 के दशहरे में मैं शिशुपाल साहु से मिलने गया था। थोड़ी इधर-उधर की बातचीत के बाद मैंने उनसे पूछा “ओड़िया सरकार एक ‘दुस्थ’ (बेसहारा) कलाकार भत्ता देती है। आपने क्या उसके लिए आवेदन नहीं किया?” मुझे पता था कि उस भत्ते को पाने के लिए जिस रसूख और पैरवी की जरूरत होती है, वह शिशुपाल साहु के पास नहीं थी इसलिए भत्ता मिलना नामुमकिन सा था। तब भी मैंने ऐसे ही पूछ लिया। मेरा प्रश्न सुनकर वे एकदम भड़क उठे— “कलाकार क्यों ‘दुस्थ’ होगा? बिना कंजूसी किए हमने अपनी कला दिखाई है। कभी यह नहीं सोचा कि आज थोड़ा कामचलाऊ नाटक दिखाएं, मेहनत से बचें। राज हरिश्चंद्र की तरह अपने पास जो कुछ भी था सब दिया। इतना सब कुछ देने के बाद कोई कैसे ‘दुस्थ’ (बेसहारा) हो सकता है।” गुस्से में इतना सब बोलने के बाद उन्होंने अपने 21 नाटकों के नाम गिनाए, उन 71 गांवों के भी जहां की नाटक मंडलियों ने ये नाटक खेले थे।

शिशुपाल सही कह रहे थे— इतने सारे नाटकों का लेखक, लौकिक स्तर पर एक नाटक आंदोलन का जन्मदाता कैसे ‘दुस्थ’ (बेसहारा) हो सकता था? उनको ‘दुस्थ’ विशेषण पर सख्त एतराज ही नहीं, भयंकर गुस्सा था। ऐसा लगा कि ‘दुस्थ’ कलाकारों को दिए जाने वाले भत्ते के बारे में उन्होंने काफी सोच-विचार कर अपनी राय बनाई थी। उन्हें इस बात का दुख था कि कलाकार ऐसा अपमान जनक भत्ता ले रहे हैं। किसी ने विरोध क्यों नहीं किया? कलाकार कैसे ‘दुस्थ’ हो सकता है, वे बार-बार कह रहे थे। यह एक स्वाभिमानी कलाकार की पीड़ा थी, आवाज थी। ऐसे देशज कलाकार अब दुर्लभ और लुप्त होते जा रहे हैं।

# अपनी भाषा में न्याय का हक

श्यामसुंदर पाठक

भारत के सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्टों की कार्यवाही अंग्रेजी में होती है। साधारण भारतवासी के लिए अपने मुकदमे को जानना, समझना, उसमें भाग लेना असंभव है। इस हालत को बदलने का एक ही उपाय है संविधान में संशोधन।

श्यामसुंदर पाठक कई महीनों तक दिल्ली में इस मुद्दे पर संविधान संशोधन की मांग को लेकर घरने पर बैठे रहे। इसके पहले आईआईटी में अपने प्रोजेक्ट को हिंदी में लिखने की मांग को लेकर संघर्ष कर चुके हैं।

फोन: 09818216384

सुप्रीम कोर्ट ने हाल के अपने एक फैसले में निर्देश दिया है कि यदि कोई चाहता है कि उससे संबंधित फैसले की प्रति उसे उसी की भाषा में मुहैया कराई जाए, तो इसे सुनिश्चित किया जाए। लेकिन क्या यह निर्देश न्याय मांगने वाले के लिए पर्याप्त होगा? हिंदी को व्यवहार में लाने की सरकारी अपील आपने रेलवे स्टेशनों और अन्य सरकारी कार्यालयों में पढ़ी होगी, लेकिन विश्व के इस सबसे बड़े प्रजातंत्र में आजादी के 65 साल बाद भी सुप्रीम कोर्ट की किसी भी कार्यवाही में हिंदी का प्रयोग पूर्णतः प्रतिबंधित है। और यह प्रतिबंध भारतीय संविधान की व्यवस्था के तहत है। संविधान के अनुच्छेद 348 के खंड 1 के उपखंड (क) में कहा गया है कि सुप्रीम कोर्ट और हर हाई कोर्ट में सभी कार्यवाहियां अंग्रेजी भाषा में होंगी। हालांकि इसी अनुच्छेद के खंड 2 के तहत किसी राज्य का राज्यपाल यदि चाहे तो राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से हाई कोर्ट में हिंदी या उस राज्य की राजभाषा के प्रयोग की अनुमति दे सकता है। पर ऐसी अनुमति उस हाई कोर्ट द्वारा दिए गए किसी निर्णय, डिक्री या आदेश पर लागू नहीं होती। यानी हाई कोर्ट में भी भारतीय भाषाओं के सीमित प्रयोग की ही व्यवस्था है।

## संशोधन है उपाय

संविधान लागू होने के 63 वर्ष बाद भी केवल चार राज्यों राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार के हाई कोर्ट में किसी भारतीय भाषा के प्रयोग की अनुमति है। सन 2002 में छत्तीसगढ़ सरकार ने हिंदी और 2010 तथा 2012 में तमिलनाडु और गुजरात की

सरकारों ने अपने-अपने हाई कोर्ट में तमिल और गुजराती के प्रयोग का अधिकार देने की मांग केंद्र सरकार से की। पर इन तीनों मामलों में उनकी मांग ठुकरा दी गई। सुप्रीम कोर्ट में अंग्रेजी के प्रयोग की अनिवार्यता हटाने और एक या एक से अधिक भारतीय भाषा के प्रयोग की अनुमति देने का अधिकार राष्ट्रपति या किसी अन्य अधिकारी के पास नहीं है। इसके लिए संविधान संशोधन ही उचित रास्ता है। संविधान के अनुच्छेद 348 के खंड 1 में संशोधन द्वारा यह प्रावधान किया जाना चाहिए कि सुप्रीम कोर्ट और प्रत्येक हाई कोर्ट में सभी कार्यवाहियां अंग्रेजी तथा कम से कम एक भारतीय भाषा में होंगी।

## शोषण का सिलसिला

ध्यान रहे, भारतीय संसद में सांसदों को अंग्रेजी के अलावा संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित सभी 22 भारतीय भाषाओं में बोलने की अनुमति है। श्रोताओं को यह विकल्प है कि वे मूल भारतीय भाषा में व्याख्यान सुनें अथवा उसका हिंदी या अंग्रेजी अनुवाद सुनें, जो उन्हें उसी समय उपलब्ध कराया जाता है। अनुवाद की इस व्यवस्था के तहत उत्तम अवस्था तो यह होगी कि सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्ट में एक या एक से ज्यादा भारतीय भाषाओं के प्रयोग का अधिकार जनता को उपलब्ध हो, परंतु इन न्यायालयों में एक भी भारतीय भाषा के प्रयोग की स्वीकार्यता न होना हमारे शासक वर्ग द्वारा जनता के खुल्लमखुल्ला शोषण की नीति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। किसी भी नागरिक का यह अधिकार है कि अपने मुकदमे के बारे वह

न्यायालय में बोल सके। परंतु अनुच्छेद 348 की इस व्यवस्था के तहत सिर्फ चार को छोड़कर शेष सभी हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में यह अधिकार अंगरेजी न बोल सकने वाली देश की 97 प्रतिशत जनता से छीन लिया गया है। इनमें से कोई भी इन न्यायालयों में मुकदमा करना चाहे, या उस पर किसी अन्य द्वारा मुकदमा दायर कर दिया जाए तो मजबूरन उसे अंग्रेजी जानने वाला वकील रखना ही पड़ेगा, जबकि अपना मुकदमा बिना वकील के लड़ने का भी हर नागरिक को अधिकार है। वकील रखने के बाद भी वादी या प्रतिवादी यह नहीं समझ पाता है कि उसका वकील मुकदमा सही ढंग से लड़ रहा है या नहीं।

निचली अदालतों और जिला अदालतों में भारतीय भाषा के प्रयोग की अनुमति है। हाई कोर्ट में जब कोई मुकदमा जिला अदालत के बाद अपील के रूप में आता है तो मुकदमे से संबंधित निर्णय व अन्य दस्तावेजों के अंग्रेजी अनुवाद में समय और धन का अपव्यय होता है। उसी तरह बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान हाई कोर्ट के बाद जब कोई मुकदमा सुप्रीम कोर्ट में आता है तो भी अनुवाद में समय और धन की बर्बादी होती है। प्रत्येक हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में एक-एक भारतीय भाषा के प्रयोग की भी अगर अनुमति हो जाए तो हाई कोर्ट तक

अनुवाद की समस्या पूरे देश में लगभग समाप्त हो जाएगी। अहिंदी भाषी राज्यों के भारतीय भाषाओं के माध्यम से संबद्ध मुकदमों में से जो मुकदमे सुप्रीम कोर्ट में आएंगे,

केवल उन्हीं में अनुवाद की आवश्यकता होगी।

अनुच्छेद 343 में कहा गया है कि संघ की राजभाषा हिंदी होगी। जबकि अनुच्छेद 351 के मुताबिक संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए और उसका विकास करे। अनुच्छेद 348 में संशोधन करने की हमारी प्रार्थना एक ऐसा विषय है, जिसमें संसाधनों की कमी का कोई बहाना नहीं बनाया जा सकता है। यह शासक वर्ग द्वारा आम जनता का शोषण करते रहने की मंशा का खुला प्रमाण है। यह हमारी आजादी को निष्प्रभावी बना रहा है।

## प्रगति और भाषा

क्या स्वाधीनता का अर्थ केवल 'यूनियन जैक' के स्थान पर 'तिरंगा झंडा' फहरा लेना है? कहने के लिए भारत विश्व का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है, परंतु जहां जनता को अपनी भाषा में न्याय पाने का हक नहीं है, वहां प्रजातंत्र कैसा?

*इन न्यायालयों में एक भी भारतीय भाषा के प्रयोग की स्वीकार्यता न होना हमारे शासक वर्ग द्वारा जनता के खुल्लमखुल्ला शोषण की नीति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। किसी भी नागरिक का यह अधिकार है कि अपने मुकदमे के बारे वह न्यायालय में बोल सके। परंतु अनुच्छेद 348 की इस व्यवस्था के तहत सिर्फ चार को छोड़कर शेष सभी हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में यह अधिकार अंगरेजी न बोल सकने वाली देश की 97 प्रतिशत जनता से छीन लिया गया है।*

दुनिया के तमाम उन्नत देश इस बात के प्रमाण हैं कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा में काम करके उन्नति नहीं कर सकता। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से विश्व के वही देश अग्रणी हैं, जो अपनी जनभाषा में काम करते हैं और वे देश सबसे पीछे हैं, जो विदेशी भाषा में काम करते हैं। विदेशी भाषा में उन्हीं अविकसित देशों में काम होता है, जहां का

बेईमान अभिजात वर्ग विदेशी भाषा को शोषण का हथियार बनाता है और सामाजिक-आर्थिक विकास के अवसरों में अपना पूर्ण आरक्षण बनाए रखना चाहता है।

## वार्ता के लिए लिखें

सामायिक वार्ता के लिए लेख, अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण लेखों के अनुवाद, साक्षात्कार, रपट, गतिविधियों के सामाचार और टिप्पणियां आमंत्रित हैं। लेख और रपट वार्ता के मिजाज के अनुकूल हों तो बेहतर होगा।

वार्ता में प्रकाशित सामग्री पर आपकी प्रतिक्रिया, टिप्पणियों और पत्रों का भी हमें इंतजार रहेगा। भाषा, टायपिंग और प्रूफ की गलतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करें तो हमें मदद मिलेगी।

# परमाणु ऊर्जा की असलियत

कुमार सुंदरम

इस साल पोखरण अणु-विस्फोट के पंद्रह साल पूरे हुए। पोखरण से लेकर 2008 में अमेरिका के साथ परमाणु-करार और उसके बाद देश के विभिन्न कोनों में परमाणु संयंत्र परियोजनाओं के खिलाफ जनांदोलनों तक, भारत की राजनीति, विदेश नीति, ऊर्जा नीति और विकास नीति काफी हद तक परमाणु मसलों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। लेकिन इस विषय पर हिंदी में कोई गंभीर स्वतंत्र लेखन नहीं हुआ है। समाजकर्मी संदीप पांडेय ने हिंदी में परमाणु विषय पर लिख कर अपने सरोकारों और इंजीनियरी के अपने मूल पेशे दोनों के प्रति ईमानदारी बरती है।

‘नाभिकीय मुक्त दुनिया की ओर’ नामक यह किताब परमाणु मुद्दे की वैज्ञानिक-तकनीकी जानकारी, भारत में इसकी स्थिति और वांछनीयता तथा इस विभीषिका के खिलाफ चल रहे जनांदोलनों के बारे में तीन स्वतंत्र अध्यायों का संकलन है। पहले अध्याय में युरेनियम खनन से लेकर नाभिकीय ईंधन निर्माण, परमाणु बिजलीघरों की कार्यप्रणाली, नाभिकीय कचरे के पुनर्संसाधन और शस्त्र-निर्माण तक समूचे परमाणु ईंधन-चक्र की जानकारी सरल भाषा में दी गई है। भारत में ये संयंत्र कब, कैसे, कहां बने और इनके सरकारी दावों की हकीकत क्या है, इसका जिक्र भी इस अध्याय में है। रावतभाटा के मौजूदा रिेक्टरों और जादूगोड़ा की युरेनियम खदान के समीप डॉ सुरेंद्र गाडेकर तथा डॉ संघमित्रा गाडेकर द्वारा किये गए स्वास्थ्य-

सर्वेक्षणों में कैंसर और जन्मजात अपंगता जैसे रोगों की बहुतायत का भी विश्लेषण है।

दूसरा अध्याय प्रश्नोत्तरी शैली में है जिसमें परमाणु से जुड़ी आम भ्रांतियों का जवाब मिलता है। नाभिकीय विकिरण सुरक्षित है और परमाणु बम से देश की सुरक्षा होती है जैसे सवालियों के साथ-साथ देश में विकास और राष्ट्र निर्माण के उस ढांचे का भी खुलासा है जिसके तहत अणु-ऊर्जा से केंद्रीकृत बिजली-उत्पादन और अणु बमों की होड़ स्वाभाविक हो जाती है। फुकुशिमा के बाद पूरी दुनिया में परमाणु ऊर्जा के कारखाने बंद किए जा रहे हैं जबकि भारत में विदेशी आपूर्तिकर्ताओं को दिए वादे पूरे करने के लिए इन कारखानों को किसानों, मछुआरों और स्थानीय समुदायों पर थोपा जा रहा है और इसके लिए परमाणु ऊर्जा से जुड़े खतरे, इसकी कीमत और स्वास्थ्य तथा पर्यावरणीय प्रभावों को अनदेखा किया जा रहा है।

किताब के तीसरे अध्याय में कुडनकुलम, जैतापुर, मीठी विर्दी, चुटका, गोरखपुर, कोवाडा और मेघालय जैसी प्रस्तावित परियोजनाओं एवं जादूगोड़ा, रावतभाटा, काकरापार, कैगा और कलपक्कम जैसी मौजूदा परियोजनाओं के खिलाफ स्थानीय जनांदोलनों का विश्लेषण है। स्थानीय मुद्दे और संघर्ष का इतिहास तथा उनमें शामिल जनसंगठनों की चर्चा है।

पुस्तक में 14 परिशिष्ट और तालिकाएं भी शामिल

## नाभिकीय मुक्त दुनिया की ओर

लेखक	-	संदीप पांडेय
प्रकाशक	-	वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, दिल्ली 100002
कीमत	-	200 रुपए



हैं जिनमें खास बिंदुओं पर जानकारी और विश्लेषण दिए गए हैं। हर अध्याय में लम्बी संदर्भ सूची है जिसका लाभ इच्छुक पाठक आगे की जानकारी के लिए उठा सकते हैं। भारत के नौसेनाध्यक्ष रहे एडमिरल रामदास और पाकिस्तान के प्रख्यात शांतिवादी वैज्ञानिक परवेज हूडभाँय ने इस पुस्तिका के लिए प्रस्तावना और आमुख लिखे हैं।

परमाणु बम और ऊर्जा-संयंत्र वस्तुतः समाज और प्रकृति की हिंसक घेरेबंदी पर आधारित आधुनिक सभ्यता और राष्ट्र-राज्य की अंधी दौड़ का नतीजा है। वैज्ञानिकों के आभामंडल की परतें उतार कर देखें तो अर्थशास्त्र की तरह ही परमाणु नीति भी कई ऐसी अवधारणाओं पर आधारित है जिनका रिश्ता किसी वस्तुनिष्ठ विज्ञान से नहीं बल्कि हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक बुनावट से है। परमाणु बम के बिना दुनिया ज्यादा सुरक्षित होगी और अणु-ऊर्जा के टिकाऊ, पर्यावरण हितैषी एवं जनकेंद्रित विकल्प संभव हैं। लेकिन सामाजिक सत्ता की सीढ़ियों के ऊपर खड़े नीति-विशेषज्ञ इस बात को देख-समझ नहीं

पाते।

इस किताब के तीनों अध्याय बिलकुल अलग हैं और उन्हें स्वतंत्र रूप से पढ़ा जा सकता है। लेकिन अच्छा होता अगर लेखक ने इन तीनों अध्यायों के बीच अन्तःसूत्रता बनाई होती। पुस्तिका की भाषा वैज्ञानिक शब्दावली के सटीक अनुवाद की कोशिश में कई जगह बहुत यांत्रिक सी हो गयी है।

जो भी हो, यह छोटी सी किताब परमाणु मसले पर काम कर रहे कार्यकर्ताओं और सामान्य पाठकवर्ग दोनों के लिए बहुत उपयोगी है और हिन्दी में साहित्येतर विषयों पर गंभीर लेकिन सरल लेखन की कमी भी कुछ पूरी करती है। परमाणु मुद्दे, खास कर अणु बिजली से जुड़ी दिक्कों को देश में ऊर्जा और विकास के व्यापक सवालियों से काटकर नहीं समझा जा सकता है, जिसके लिए इसी तरह के और गंभीर लेकिन सहज लेखन की जरूरत हिन्दी समाज को है। (pksundaram@gmail.com)

09810556134

## परमाणु ऊर्जा पर जन घोषणापत्र

परमाणु ऊर्जा पर भारतीय जनता का यह घोषणापत्र हमारे साझे अनुभवों, संघर्षों और सुरक्षित ऊर्जा भविष्य को लेकर हमारी साझी दृष्टि का एक दस्तावेज है। ऐसे संघर्ष इस ऊर्जा कार्यक्रम की शुरुआत से ही होते रहे हैं और केरल जैसी जगहों पर उन्होंने अहम जीतें भी हासिल की हैं।

कुडनकुलम(तमिलनाडु), जैतापुर(महाराष्ट्र), मीठी विर्दी(गुजरात), कोवाडा(आन्ध्र प्रदेश), गोरखपुर(हरियाणा), चुटका(मध्य प्रदेश) और हरिपुर(पश्चिम बंगाल) जैसी जगहों पर लोग परमाणु ऊर्जा कारपोरेशन द्वारा लगाए जा रहे इन जनविरोधी और असुरक्षित परमाणु बिजली संयंत्रों के खिलाफ जुझारू संघर्ष चला रहे हैं। उनके शांतिपूर्ण जनान्दोलनों को सरकारी बेरुखी और बर्बर दमन का सामना करना पड़ रहा है। मौजूदा परमाणु संयंत्रों के नजदीक रहने वाले समुदायों ने भी विकिरण रिसाव और इसके हानिप्रद प्रभावों के खिलाफ आवाज उठाई है, जिन्हें प्रायः प्रशासन द्वारा दबाने की

कोशिश की गई है। पिछले कुछ समय से इन आंदोलनों को समाज के कई तबकों का समर्थन और सहयोग भी मिला है। बुद्धिजीवी, नीति-विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, समाजकर्मी, लेखक, कलाकार एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों से आने वाले लोगों ने इन आंदोलनों का साथ दिया है।

आज व्यापक तौर पर परमाणु ऊर्जा को जीवन, जीविका तथा पर्यावरण पर खतरे के तौर पर देखा जा रहा है, जिसका एक बड़ा कारण यह है कि इसमें कई पीढ़ियों को प्रभावित करने वाले अपरिवर्तनीय विकिरण प्रभावों और विनाशकारी तबाही की संभावना होती है। चेर्नोबिल और उसके बाद जापान में हुई फुकुशिमा दुर्घटना के बाद कई देशों ने परमाणु ऊर्जा पर पुनर्विचार किया है और इसे क्रमशः बंद करने निर्णय लिया है। अपने निहित खतरों, ऊंची कीमत और गोपनीय चरित्र के चलते यह ऊर्जा हर जगह लोगों के ऊपर बलपूर्वक थोपी जा रही है।

इतने सालों के प्रयास और भारी खर्च के बावजूद, परमाणु ऊर्जा से भारत में बिजली की सिर्फ 3 प्रतिशत ही

उत्पादन-क्षमता बन पाई है। लेकिन फिर भी भारत इसका विस्तार करने में लगा है, जिसका एक प्रमुख कारण यह है कि भारत-अमेरिका परमाणु करार के दौरान अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी और परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह से भारत के लिए छूट हासिल करने हेतु सरकार ने अमेरिका, रूस और फ्रांस इत्यादि देशों से जो वायदे किए थे, वो अब पूरे करने हैं। इस विस्तार से उन देशी-विदेशी औद्योगिक लॉबियों की भी ताकत बढ़ेगी जो मुनाफे पर नजर गड़ाए हुए हैं। इससे परमाणु प्रतिष्ठान की सत्ता और विशेषाधिकारों में भी खूब वृद्धि होगी और भारत में केंद्रीकृत और ऊर्जा-सघन आर्थिक विकास का एजेंडा और आगे बढ़ेगा।

भारत की ऊर्जा जरूरतों के लिए परमाणु बिजली अपरिहार्य है, यह दावा अब सवालों के घेरे में है। परमाणु ऊर्जा की होड़ में हम देश की असली जरूरत यानी विकेंद्रीकृत, पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ और समतावादी ढंग से ऊर्जा उत्पादन से और दूर चले जाएंगे।

इसका अर्थ यह है कि हम परमाणु ऊर्जा के रास्ते पर जाएं या न जाएं, और जाएं तो कैसे, किन शर्तों पर, इस सवाल को सीधे आम जनता के सामने रखा जाना चाहिए।

हम यह मांग करते हैं कि-

-सभी प्रस्तावित परमाणु ऊर्जा परियोजनाओं को तत्काल प्रभाव से स्थगित किया जाए।

-इन परियोजनाओं के लिए भूमि-अधिग्रहण भी तुरंत रोका जाए।

-परमाणु ऊर्जा और इसके विकल्पों पर एक खुली राष्ट्रीय बहस का आयोजन किया जाए। सरकार यह स्वीकार करे कि परमाणु ऊर्जा पर उठ रहे सवाल वाजिब और गंभीर हैं।

-सरकार परमाणु ऊर्जा का औचित्य, वांछनीयता, सुरक्षा, पर्यावरणीय मजबूती, कीमत और इसके दीर्घकालिक प्रभावों की जांच के लिए एक नागरिक आयोग बनाए। इस आयोग में स्वतंत्र विशेषज्ञ, समाज वैज्ञानिक और नागरिक समाज के प्रतिनिधि शामिल किए जाएं।

-जहां भी नए परमाणु बिजलीघर, युरेनियम खनन

अथवा परमाणु ईंधन-चक्र से संबंधित कोई भी अन्य कारखाना प्रस्तावित हैं, वहां प्रारंभिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण के लिए सरकार को स्वतंत्र विशेषज्ञों का समूह गठित करना चाहिए। इस सर्वेक्षण के निष्कर्षों को स्थानीय लोगों के बीच पूरी पारदर्शिता से साझा किया जाए जिन्हें अपनी सेहत के बारे में संपूर्ण और अबाध जानकारी का पूरा हक है।

-गैर-मान्यताप्राप्त संस्थानों द्वारा पर्यावरणीय प्रभाव आकलन की मौजूदा प्रक्रिया बिलकुल अस्वीकार्य है। इस आकलन में विकिरण का रिसाव और रेडियोधर्मी कचरे के भंडारण व परिवहन के दौरान जोखिम और दुर्घटना जैसे परमाणु ऊर्जा से जुड़े विशिष्ट खतरे शामिल नहीं होना बिलकुल अक्षम्य है। परमाणु ऊर्जा से जुड़ी सभी परियोजनाओं के लिए पर्यावरणीय मंजूरी की प्रक्रिया को और अधिक सख्त एवं संपूर्ण बनाना चाहिए तथा इनके लिए व्यापक जनसुनवाई अनिवार्य की जानी चाहिए जिसमें सभी प्रासंगिक सूचनाओं और दस्तावेजों को साझा किया जाना चाहिए। इसमें परमाणु ऊर्जा से सामान्यतः जुड़े खतरे जैसे विकिरण, रिसाव एवं उत्सर्जन, ताजे पानी जैसी जरूरतों की उपलब्धता, पर्यावरण, जीव-जन्तुओं एवं पेड़-पौधों पर पड़ने वाले प्रभाव, दुर्घटना की संभावनाएं, कचरे को अलग और भंडारित करने और निपटाने के उपाय, परमाणु ऊर्जा के सामान के परिवहन से जुड़े खतरे, इन सबसे स्थानीय लोगों को होने वाले जोखिम तथा उससे निपटने के लिए हुई तैयारियों का विस्तार से वर्णन होना चाहिए। चेर्नोबिल और फुकुशिमा दुर्घटनाओं के आलोक में इन संयंत्रों के आसपास के ज्यादा बड़े क्षेत्र के जनसमुदाय को प्रभावित होने की संभावनाओं के अंदर माना जाना चाहिए।

-स्थानीय लोगों को इस बात का अंतिम अधिकार होना चाहिए कि वे तय कर सकें कि वे अपने इलाके में परमाणु संयंत्र या युरेनियम खनन या अन्य संबंधित खतरनाक संयंत्र लगाना चाहते हैं या नहीं। अभी जो नाटक होता है उसकी जगह पर ठीक ढंग से जन-सुनवाई होनी चाहिए, जिसका ठीक से प्रचार किया जाना चाहिए। इसका आयोजन स्वतंत्र नागरिक संस्थाओं द्वारा किया जाना चाहिए और हर तरह के लोगों को हिस्सा लेने की छूट होनी चाहिए, चाहे वे साधारण नागरिक हों अथवा इस विषय से जुड़े कार्यकर्ता या विशेषज्ञ।

-स्वतंत्र विशेषज्ञों द्वारा पूरे परमाणु क्षेत्र की विस्तृत सुरक्षा जांच होनी चाहिए। मौजूदा संयंत्रों और खदानों की



सुरक्षा की नियमित अन्तराल के बाद स्वतंत्र विशेषज्ञों द्वारा समीक्षा होनी चाहिए।

-प्रशासन द्वारा स्वतंत्र विशेषज्ञों के नेतृत्व में इन परमाणु संयंत्रों के आस-पास दीर्घकालीन एवं मध्यमकालिक स्वास्थ्य प्रभावों के सर्वेक्षणों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और इनके परिणामों को सरकार द्वारा प्रकाशित किया जाना चाहिए। एक नागरिक-आधारित विकिरण निगरानी तंत्र परमाणु संयंत्रों के नजदीक गठित होना चाहिए जिसके लिए सरकार को घोषित तौर पर धन आवंटित करना चाहिए।

-परमाणु क्षेत्र में कार्यरत मजदूरों की सेहत की नियमित जांच होनी चाहिए और इसके परिणामों को साझा करना चाहिए। परमाणु उद्योग में ठेका श्रमिक नहीं लगाए जाने चाहिए क्योंकि ऐसे श्रमिकों की स्वास्थ्य-जांच और निगरानी करना संभव नहीं है। सभी मौजूदा ठेका श्रमिकों को नियमित करके उन्हें पूरे लाभ दिए जाने चाहिए।

-सरकार को 1962 के परमाणु ऊर्जा अधिनियम को हटाकर एक नया कानून जल्द बनाना चाहिए जिसमें परमाणु उद्योग में पारदर्शिता और हर स्तर पर निर्णय में सहभागिता सुनिश्चित की जाए।

-परमाणु ऊर्जा नियमन बोर्ड अपने कर्तव्य का पालन करने में असफल रहा है और इसने अपने ही बनाए नियमों का उल्लंघन किया है। इसे परमाणु ऊर्जा विभाग से तुरंत स्वतंत्र किया जाना चाहिए। इसमें ऐसे स्वतंत्र और जवाबदेह अधिकारी एवं विशेषज्ञ नियुक्त किए जाने चाहिए जो परमाणु उद्योग की निष्पक्ष जांच कर सकें और उस पर नजर रखें। साथ ही, इसके लिए बजट का प्रावधान पर्यावरण मंत्रालय से किया जाए।

-सूचना के अधिकार कानून को परमाणु उद्योग के हर हिस्से पर यथाशीघ्र लागू किया जाए ताकि सरकार सुरक्षा का बहाना बनाकर परमाणु उद्योग से जुड़ी सूचनाओं से आम जनता को वंचित न रख सके।

-दुर्घटना की स्थिति के लिए व्यापक परामर्श पर आधारित, पूरी आबादी खाली करने के प्रावधान सहित, विस्तृत आपातकालीन योजना तैयार की जानी चाहिए और उसे उन स्थानीय लोगों की प्रतिनिधि संस्थाओं से साझा करना चाहिए जिन पर इसका असर पड़ सकता है। इससे

संबंधित सभी व्यावहारिक पहलुओं और त्वरित आबादी-निकासी के लिए आवश्यक ढांचों और प्रक्रियाओं के बारे में स्थानीय लोगों को साथ लेकर विमर्श करना चाहिये और समय समय पर इसके लिए अभ्यास आयोजित करवाना चाहिए ताकि दुर्घटना की स्थिति में आबादी को जल्दी हटाया जा सके।

-परमाणु दायित्व कानून(2010) अपने वर्तमान स्वरूप में दुर्घटना की स्थिति में जरूरी आपूर्तिकर्ताओं की पूर्ण नैतिक जवाबदेही के सिद्धांत का उल्लंघन करता है और इसमें तदनु रूप संशोधन होना चाहिए। इसके साथ ही मौजूदा कानून में शामिल आपूर्तिकर्ता के दायित्वों में और कमी नहीं करना चाहिए।

-भारत के मौजूदा परमाणु संयंत्रों और खदानों के इर्द-गिर्द बसे लोगों को विकिरण प्रभावों के लिए मुआवजा और जरूरी स्वास्थ्य सुविधाएं तत्काल मुहैया कराना चाहिए। अभी तो सरकार इन प्रभावों और समस्याओं को मानने से भी इनकार करती है।

-परमाणु ऊर्जा परियोजनाओं का विरोध कर रहे स्थानीय लोगों और आंदोलनों पर देशद्रोह और अन्य झूठे इल्जामों में लगाए गए मुकदमे तत्काल वापस लिए जाएं। कूडनकुलम के मामले में तो सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश के बावजूद राज्य सरकार ने ये मुकदमे अभी तक नहीं हटाए हैं।

परमाणु ऊर्जा की इन कमजोरियों को देखते हुए ऊर्जा क्षेत्र के लिए समता, पर्यावरणीय टिकाऊपन और कम खर्च के सिद्धांतों पर आधारित एक वैकल्पिक नीति तैयार की जानी चाहिए जिसमें ऊर्जा के पारंपरिक और पवन, सौर, छोटी पनबिजली जैसे गैर-पारंपरिक स्रोत शामिल हों। अपने लोगों के प्रति सरकार की इतनी न्यूनतम जिम्मेवारी तो बनती ही है। परमाणु ऊर्जा के अति-महत्वपूर्ण मामले को सिर्फ मुट्ठीभर सरकारी वैज्ञानिकों, अफसरों, उद्योगपतियों और राजनेताओं के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता।

( परमाणु निरस्त्रीकरण एवं शांति हेतु गठबंधन, परमाणु ऊर्जा के विरुद्ध जनआंदोलन, कोंकण विनाशकारी प्रकल्प विरोधी समिति, लोकायत पुणे, समाजवादी जन परिषद, भारत जन विज्ञान जत्था, अणुमुक्ति, गोरखपुर परमाणु संयंत्र विरोधी समिति एवं अन्य व्यक्ति )

अहमदाबाद, 26 जुलाई 2013

## कर-भाफी की लूट

जो भारत सरकार गरीबों या आम जनता के कल्याण के लिए खर्च करने में साधनों की कमी का रोना रोती है, वह कंपनियों और अमीरों को अनुदान या करों में छूट देने में काफी उदार रहती है। शायद 'उदारीकरण' का यही मतलब है।

पिछले कुछ सालों से भारत सरकार ने अपने बजट में करों में छूट या रियायतें देने से होने वाली राजस्व-हानि (रेवेन्यू फोरगोन) के आंकड़े देना शुरू किया है। चार तरह के करों के विषय में ये आंकड़े उपलब्ध हैं। इनमें से एक उस अमीर या मध्यम वर्ग को फायदा पहुंचाता है जो आयकर देने की जद में आते हैं। बाकी तीन कंपनियों को फायदा पहुंचाते हैं। करों में छूट या रियायतें एक तरह के अनुदान ही हैं, जो छिपे रहते हैं।

-इनसे पता चलता है कि भारत सरकार कंपनियों को विशाल राशि की छूट दे रही है, जो कि कुल राष्ट्रीय

आय के साढ़े पांच से साढ़े सात फीसदी तक है। यदि यह छूट नहीं दी जाए तो भारत सरकार के बजट का वित्तीय घाटा आसानी से पूरा हो जाएगा। यह घाटा अभी राष्ट्रीय आय के साढ़े चार फीसदी से पांच फीसदी के बराबर रहता है और इसी को कम करने के चक्कर में जन कल्याणकारी खर्चों में कटौती की जा रही है।

-इन आठ सालों में कुल मिलाकर भारत सरकार ने करीब 32 लाख करोड़ रु. की रियायतें कंपनियों व अमीरों को उपहार में दी हैं। गरीबों के बजाय अमीरों को रियायतें देना वैश्वीकरण की नई नीतियों का बड़ा घोटाला है। इसके आगे अभी तक के सबसे बड़े घोटाले (2 जी स्पेक्ट्रम और कोयला) कहीं नहीं उहरते जिनकी राशि करीब पौने दो लाख करोड़ रुपए की है।

-करों से प्राप्त आय से इनकी तुलना करने पर पता चलता है कि 2011-12 में व्यक्तिगत आयकर में छूटें

### करों में छूट से केन्द्र सरकार को राजस्व हानि

(करोड़ों रु. में)

वर्ष	व्यक्तिगत आयकर	कंपनी आयकर	उत्पाद शुल्क	सीमाशुल्क (आयात-निर्यात शुल्क)	योग	राष्ट्रीय आय का प्रतिशत
2005-06	13550	34618	66760	90140	205068	5.6
2006-07	15512	50075	99690	69914	235191	5.5
2007-08	38057	62199	87468	97328	285052	5.7
2008-09	37570	66901	128293	181335	414099	7.4
2009-10	45142	72881	169121	195288	482432	7.4
2010-11	36826	57912	192227	172740	459705	6.0
2011-12	39375	61765	195590	236852	533583	5.9
2012-13 (अनुमानित)	45464	68008	206188	253967	573627	5.7
<b>महायोग</b>					<b>3188757</b>	

स्रोत : भारत सरकार के विभिन्न बजट दस्तावेज

कुल इकट्ठी की गई राशि की 21.3 फीसदी थी। कंपनी आयकर के मामले में यह 19.1 फीसदी थी। लेकिन उत्पाद शुल्क में रियायतों की राशि 134.3 फीसदी और सीमा शुल्क में 158.63 फीसदी थी। यानी कर से जितनी आय हुई उससे भी काफी ज्यादा राशि माफ कर दी गई। चारों को मिलाकर यह अनुपात 67.7 फीसदी था।

-2008-09 और 2009-10 में वैश्विक आर्थिक संकट से मुकाबला करने के लिए कंपनियों को राहत देने के नाम पर कर-रियायतें एकाएक काफी बढ़ गईं। लेकिन यह संकट टल जाने पर ये रियायतें वापस नहीं ली गईं, बल्कि इनकी राशि बाद में भी बढ़ती गई।

-कई बार यह हल्ला मचाया जाता है कि भारत में काफी ज्यादा टैक्स हैं। लेकिन इन छूटों के कारण वास्तविक प्रभावी टैक्स दर काफी कम हो जाती है। जैसे 2011-12 में कंपनी आय पर कर की वैधानिक दर 32.5 फीसदी थी, लेकिन असलियत में कंपनियों ने केवल 22.85 फीसदी कर ही चुकाया। भारत में वैसे भी घोषित वैधानिक कंपनी आयकर दर बाकी दुनिया से काफी कम है। संयुक्त राज्य अमरीका में यह 40 फीसदी, जापान में 38 फीसदी, अर्जन्तीना में 35 फीसदी, बेलजियम और ब्राजील में 34 फीसदी है। भारत में कंपनियां इस न्यूनतम दर में भी काफी छूटें प्राप्त कर लेती हैं।

-ये रियायतें, छूटें व माफी कई नाम से दी जाती हैं। 'निर्यात आधारित विकास' के चक्कर में निर्यातकों को कई तरह के करों में कई तरह की छूटें मिलती हैं। विशेष आर्थिक जोन (सेज) में भी काफी रियायतें मिलती हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान, बुनियादी ढांचा (इन्फ्रास्ट्रक्चर) के विकास, परोपकार, समाजसेवा आदि के नाम पर भी छूटें मिलती हैं। दूरसंचार (फोन), बिजली, तेल एवं गैस के उत्पादन, आवास निर्माण आदि में लगी कंपनियों को खास रियायतें मिलती हैं। हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड,

सिक्किम और उत्तरपूर्व के राज्यों में उद्योग लगाने पर भी उत्पाद शुल्क में विशेष माफी मिलती है।

-2011-12 में केवल सोने व हीरे-जवाहरात में ही आयात-निर्यात शुल्कों में 65,975 करोड़ रु. की विशाल छूट दी गई। यह राशि उस वर्ष के कुल खाद्यान्न अनुदान के बराबर थी। इन छूटों का कैसे दुरुपयोग होता है और सरकार का खजाना लुटाया जाता है, इसकी एक बढ़िया मिसाल आईपीएल (इंडियन प्रीमियर लीग-क्रिकेट) को दी गई आयकर में छूट है। आईपीएल के मैचों को खेलों को बढ़ावा देने वाला परोपकारी काम माना गया और 2004-05 से 2006-07 तक उसे 225 करोड़ रु. की आयकर माफी दी गई। 2007-08 में 275 करोड़ रु., 2008-09 में 377 करोड़ रु. तथा 2009-10 में 217 करोड़ रु. का आयकर उस पर से माफ किया गया। जब बहुत हल्ला हुआ तो 28 दिसंबर 2009 से यह माफी वापस ली गई।

यह भी गौरतलब है कि करों में छूट के ये आंकड़े केवल केंद्र सरकार के हैं। राज्य सरकारें, नगरनिगम, नगरपालिकाएं भी कंपनियों को वेत (बिक्री कर), मनोरंजन कर, आबकारी कर, स्टांप एवं पंजीयन शुल्क, प्रवेश कर, चुंगी, विद्युत शुल्क, पानी शुल्क आदि में कई तरह की छूटें देती हैं।

यह भी गौरतलब है कि करों में ये छूटें वे हैं जो पूरी तरह कानूनी रूप से कंपनियों और अमीरों को मिलती हैं। वे गैरकानूनी रूप से आमदनी या बिक्री या उत्पादन को छिपाकर, हवाला के जरिये, दो नंबरी लेन-देन के जरिये जो कर-चोरी करते हैं, वह इसके अलावा है। वह भी काफी विशाल है।

कुल मिलाकर, भारतीय व्यवस्था में कंपनियों व पैसे वालों की मौज है। इस मायने में भी यह 'कंपनी राज' है।

## सामयिक वार्ता दुकानों पर

**कोलकाता :-**

राजकमल प्रकाशन पुस्तक केन्द्र  
(भारतीय भाषा परिषद भवन),  
36 ए, शेक्सपीयर सारणी  
कोलकाता- 700017

**:- पटना :-**

अरुणिमा बुक स्टाल  
मौर्या कॉम्प्लेक्स,  
पटना

**:- वाराणसी**

सर्वोदय साहित्य भंडार,  
प्लेटफार्म नं. 4,  
वाराणसी कैंट स्टेशन,  
वाराणसी

# अन्याय से लड़ने वाले वैश्विक परिवार में आ गई हूँ

मिरियल एक्स

विगत जून में वाराणसी में संपन्न हुए समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय सम्मेलन में लंदन से 'फॉयल वेदांता' समूह की दो युवतियां भी पर्यवेक्षक के रूप में आई थीं। उनमें से एक ने लौटकर अपना अनुभव लिखते हुए एक लंबा पत्र भेजा। इसे यहां अविकल पेश किया जा रहा है।

मिरियम एक्स लंदन स्थित 'फॉयल वेदांता' समूह की प्रमुख कार्यकर्ता हैं।

अंगरेजी से अनुवाद रजनीकांत शर्मा ने किया है।

miriam.rose  
@outlook.com

मैंने जून 2013 में वाराणसी में राजघाट में आयोजित समाजवादी जन परिषद के द्विवार्षिक सम्मेलन में भाग लिया। मैं पिछले कुछ वर्षों से लंदन में पंजीकृत खनन कंपनी वेदांत के खिलाफ संघर्ष के सिलसिले में सजप के संपर्क में हूँ। जब सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि नियमगिरि में वेदांत कंपनी द्वारा खनन हो या न हो, यह डोंगरिया कंध आदिवासियों की ग्रामसभाओं में तय होगा, तब इसमें सरकार द्वारा गड़बड़ी न की जाए इसकी निगरानी का आह्वान किया गया। इसी सिलसिले में मैं अपनी साथी टिली के साथ लंदन से ओड़िशा आई और वहां से सजप के सम्मेलन में आई।

उद्घाटन सत्र में मुझसे कहा गया कि मैं लंदन स्थित 'फॉयल वेदांता' (वेदांत को रोको) समूह के बारे में बताऊँ। मैंने बताया कि लंदन स्थित यह समूह कई उन जमीनी कार्यकर्ताओं का समूह है जो कारखानों और नवउदारवादी नीतियों के खिलाफ लड़ रहे हैं। इसमें त्रिनिदाद, आइसलैंड, भारत, केन्या, इजरायल और इंग्लैंड के वे समर्पित कार्यकर्ता हैं जो लंदन में रहते हैं। भारत, अफ्रीका और दूसरी जगहों में इस दुष्ट कंपनी के खिलाफ संघर्ष करने वाले और उन संघर्षों के साथ एकता महसूस करने वाले लोग इसमें इकट्ठे हुए हैं। हम एनजीओ के साथ काम नहीं करते हैं और उनसे पैसा भी नहीं लेते हैं। एनजीओ लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं और उतना ही काम करते हैं जितना उनको पैसा मिलता है।

हम भारत और अफ्रीका में वेदांत से प्रभावित समुदायों के सीधे संपर्क में हैं। जब उन पर कोई जुल्म होता है या उनके प्रदर्शन होते हैं तो हम लंदन में कंपनी के खिलाफ कार्यक्रम करते हैं। हमारा मकसद है कि हम नहीं, बल्कि प्रभावित लोगों के संघर्ष सामने आएँ और दुनिया को दिखाई दें। हमारा लक्ष्य यह भी है कि वेदांत से लड़ने वाले या ऐसे अन्य संघर्ष करने वाले अलग-थलग पड़े समुदायों के आपस में सूत्र जुड़े। उनकी गाथाओं, रणनीति, संसाधनों और समर्थन का आदान-प्रदान हो। स्थानीय जमीनी संघर्षों का आपस में जुड़ना काफी महत्वपूर्ण है और शक्तिदायक है।

मैंने यह भी बताया कि हमारा अभियान एक मुद्दे तक सीमित नहीं है। कुडनकुलम, लोअर सुक्तेल बांध, पोस्को, तमिल मुद्दा, बांग्लादेश की फुलबाड़ी कोयला खदान, आइसलैंड का एल्युमीनियम उद्योग, त्रिनिदाद का स्मेल्टर विरोधी आंदोलन और ग्रीनलैंड के अलकोआ संघर्ष जैसे अन्य सहमना संघर्षों का भी समर्थन हम करते हैं। हम वेदांत और लंदन में इसके सहयोगियों पर अनुसंधान भी करते हैं और इन मुद्दों पर बहसों में भाग लेते हैं। अभी हम कोशिश कर रहे हैं कि लंदन शेयरबाजार से वेदांत को हटा दिया जाए।

भारतीय आंदोलनकारी जमात में गौरा (विदेशी) होने से हमेशा दिक्कत होती है। लोग तुरंत सोचने लगते हैं कि आप या तो एनजीओ से हैं या ऊंचा वेतन पाने वाले पत्रकार या बुद्धिजीवी हैं। लोग सोच ही नहीं पाते हैं

कि ब्रिटेन में भी कोई बगैर वेतन का कार्यकर्ता हो सकता है। मीडिया भी हमारे संघर्षों को कवर नहीं करता है और हमारी सीधी कार्रवाईयों के बजाए एमनेस्टी जैसी संस्थाओं के बयान को प्राथमिकता देता है।

मेरे बोलने के बाद कई लोगों ने कहा कि उन्हें मालूम नहीं था कि पश्चिम में भी इस तरह से लड़ने वाले लोग हैं। मैंने जवाब दिया कि हैं तो, लेकिन भारत के आंदोलनों जैसे नहीं हैं। मैंने और मेरी साथी टिली ने भारत के सामाजिक आंदोलनों से रिश्ता जोड़ा है क्योंकि यहां हमें वह प्रतिबद्धता, ईमानदारी और वैचारिक समझ मिलती है जो पश्चिम में दुर्लभ है। मुझे लगता है कि इसका एक कारण यह है कि यहां लोग विकास और नवउदारवाद के अन्याय को सीधे झेलते व महसूस करते हैं। पश्चिम में ज्यादातर हमारी समझ ज्यादा बौद्धिक व दूर की है, इसलिए इसमें से बहुत कम लोग झूठे सुख के पश्चिमी भौतिकवादी बुलबुले से बाहर आ पाते हैं और पूंजीवाद के विषमतापूर्ण चरित्र तथा नव-औपनिवेशिक त्रासद कहानियों पर क्रोध महसूस कर पाते हैं।

## संघर्षों का अपनापा

सम्मेलन में जिनसे भी हमने बात की—पश्चिम बंगाल से, बिहार से, मध्यप्रदेश, ओड़िशा और केरल से उनके पास आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय कहानियां सुनाने को थीं। ओड़िशा के किसान जिन्होंने हीराकुड बांध का पानी उद्योगों को देने से रोका; बिहारी महिलाएं जिन्होंने गांव की सरकारी शराब दुकानों को तोड़ दिया; मध्यप्रदेश में 40 साल पहले विस्थापित हुए लोगों का तवा जलाशय में मत्स्याखेट के अधिकारों के लिए संघर्ष; और ओड़िशा में नियमगिरि में तथा सहारा ताप बिजली कारखाने से लड़ते लोग। इन महान संघर्षों के साथ-साथ और भी कहानियां थीं—पैसे की तंगी, पुलिस दमन, जेल, पारिवारिक दबाव और परिवार के सदस्यों को पुलिस व सरकार द्वारा निशाना बनाया जाना। भारत में उत्पीड़ित लोगों के लिए लड़ने का क्या मतलब है, यह जानकर उनके त्याग के प्रति मेरी श्रद्धा और बढ़ जाती है।

इन जमीनी संघर्षों के साथ ही, सजप के सम्मानित चिंतकों द्वारा लिखे गए राजनैतिक प्रस्ताव और दृष्टि पत्र का विश्लेषण भी मुझे काफी सटीक और जोरदार लगा। मुझे लगा कि मैं कुछ सच्चे क्रांतिकारियों और प्रतिभाशाली लोगों की संगत में हूँ और उनके साथ जितना ज्यादा संभव हो, रहूँ।

हर सत्र की शुरूआत और अंत में गीतों और नारों से सम्मेलन का वातावरण काफी खुशनुमा और लड़ने के जज्बे से भरपूर दिख रहा था। मैंने भी एक गाना गाया जो 1950 के दशक में पेनसिलवेनिया में कोयला खदानों के खिलाफ संघर्ष का गीत है। इंग्लैंड के आंदोलनों में हम ज्यादा गाते नहीं हैं। भारत के अनुभव से पता चलता है कि लोगों को साथ में लाने, हमारी उदासी, खुशी या विद्रोह की भावनाओं को अभिव्यक्त करने और हममें ऊर्जा भरने

में गीतों और कविता की कितनी अहम भूमिका है। हम इंग्लैंड में भी गानों का प्रयोग बढ़ाएंगे।

सम्मेलन में जो लोग आए थे उनके साथ एक गहरे रिश्ते की अनुभूति मुझ पर छा गई। यद्यपि हम हजारों मील दूर, अलग संस्कृति से आए थे, लेकिन जब हमारी आंखें मिलीं और हमने अपनी कहानियां साझा

की, तो तुरंत हमे अपनेपन और पहचान का अहसास हुआ। ऐसा लगा कि हम सब दुनिया के अन्याय के खिलाफ, बिना पैसे के, कठिन परिणामों की परवाह किए बगैर, अपने दिल से लड़ने वाले लोग हैं। ब्रिटेन में मुझे ऐसे कार्यकर्ता बहुत कम मिलते हैं जिन पर मैं वास्तव में भरोसा और जिनकी इज्जत कर सकूँ। कई बार मैं अकेली महसूस करती हूँ। समाजवादी जन परिषद के इस द्विवार्षिक सम्मेलन में कई अद्भुत लोगों के साथ जुड़कर मुझे ऐसा लगा कि मैं घर आ गई हूँ और एक बड़े वैश्विक कार्यकर्ता परिवार का हिस्सा बन गई हूँ। इससे मुझे बहुत सहारा और प्रेरणा मिली है। इंग्लैंड में इस काम को जारी रखने के लिए मेरी ताकत और ऊर्जा इससे दुगुनी हो जाएगी।

समाजवादी जन परिषद के सभी साथियों को तहेदिल से धन्यवाद करती हूँ। जिंदाबाद।

# बगहा गोलीकांड का सच क्या है

## जांच दल की रपट

बिहार के पश्चिमी चंपारण जिले में बगहा के पास पुलिस ने गोली चलाई और 6 लोग मारे गए। दर्जनों घायल हुए। यह गोलीकांड किन परिस्थितियों में हुआ? इसके लिए कौन जिम्मेदार है? तथ्यों का पता लगाने के लिए जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की एक टीम वहां गई। उसकी रपट का संक्षेप।

### जांच दल के सदस्य:

आशीष रंजन, महेंद्र यादव, अरविंद कुमार, अरविंद पासवान, मणिलाल, अनिल द्विवेदी।

### संपर्क:

ए-5, सिद्धार्थ अपार्टमेंट, जगदेव पथ, पटना(बिहार)  
पिन: 800014

फोन: 09973363664

ashish.ranjanjha  
@gmail.com

बिहार के पश्चिम चंपारण जिले में नौरंगिया थाना के अंतर्गत बगहा के पास कटहरबा में 24 जून को पुलिस ने भीड़ पर गोली चलाई जिसमें 6 लोगों की जान गई और दर्जनों लोग घायल हुए। सरकार ने उसके बाद दो अफसरों का एक संयुक्त जांच दल गठित किया। जांच दल ने अपनी रिपोर्ट जारी की है। जांच दल बिना सघन जांच किए इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि पुलिस ने जान बचाने के लिए गोली चलाई। जांच रिपोर्ट के बाद पुलिस पर हलकी-फुलकी कार्रवाई हुई है। सरकार ने नौरंगिया के थाना प्रभारी को निलंबित किया है और बगहा के एसपी और डीएसपी का तबादला किया है। सरकार ने न्यायिक जांच का भी आदेश दिया है।

इन घटनाओं के बाद जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की एक चार सदस्यीय टीम 30 जून को बगहा गई। टीम ने दरदरी, कटहरबा और देवताहा के कई ग्रामीणों से बातचीत की। टीम ने मारे गए और घायल हुए लोगों के परिजनों से भी मुलाकात की। घटना का विवरण कुछ इस प्रकार बताया गया है।

दरदरी गांव का चंद्रेश्वर काजी माइक और साउंड का काम करते हैं। बगल के गांव देवताहा में हो रहे भागवत पाठ में उन्होंने साउंड का काम किया था। 15 जून की रात में वह अंतिम बार अमवां गांव के रविकेश नाम के व्यक्ति के साथ देखे गए और तब से गायब थे। चंद्रेश्वर काजी की शादी घटना के बाद एक महीना पहले ही हुई है। 16 जून के शाम से लोगों ने उन्हें खोजना शुरू किया। 18 जून को दरदरी के कुछ ग्रामीण मिलकर नौरंगिया थाना गए और रिपोर्ट लिखाने की कोशिश

की। थाना प्रभारी विनय कुमार ने कहा कि आपका वाल्मीकि नगर थाना पड़ता है वहां जाइए। अगले दिन 19 जून को सवेरे जब वाल्मीकि नगर थाना गए तो वह थाना प्रभारी बोले कि जहां घटना हुई है वह नौरंगिया थाना में पड़ता है आप लोग वहां जाएं। उसी दिन नौरंगिया थाना गए, जहां थाना प्रभारी नहीं थे। मुंशी ने आवेदन लिया और कहा कि 20 जून को थाना प्रभारी से बात कर लीजिए।

जब अगले दिन गए तो मुंशी ने कहा कि थाना प्रभारी बगहा गए हैं कल आइए। जब दूसरे दिन ग्रामीण थाना पर पहुंचे और थाना प्रभारी से मिले तब उन्होंने कहा कि लड़के का फोटो दे दीजिए। उसी दिन लड़के का फोटो दे दिया। 22 जून को रविकेश को नामजद बनाते हुए प्राथमिकी दर्ज करने आवेदन दिया। 23 जून तक जब पता नहीं चला तो 24 जून को गांव के कई लोग थाने पर गए, आसपास के गांव के लोग भी साथ में गए। सैकड़ों लोग थाने पहुंचे थे। थाने में पुलिस ने कहा कि लाश की सूचना मिली है, चलिए लाश बताते हैं। लोग वापस लौटे। पुलिस दरदरी पहुंची और दरदरी के अजय कुमार काजी, जिसने चंद्रेश्वर को लापता होने के पहले देखा था, को अपने साथ लेकर उन स्थानों पर गई, जहां अजय ने चंद्रेश्वर को देखा था।

पहले देवताहा गए फिर अमवां गए। रास्ते में कटहरबा के पास पुल पर बहुत लोग जमा थे। लाश का हल्ला हुआ था। लोगों ने पुलिस को घेर लिया, पूछा कि लाश कहां है? लोगों ने कहा कि आप लाश बताइए नहीं तो जो मुजरिम बंद किया है उसे लाइए लाश बताते। पुलिस कहने लगी कि मुजरिम को

बुला रहे हैं। लेकिन मुजरिम को बुलाने के बजाए उन्होंने अतिरिक्त पुलिस बुला लिया। अतिरिक्त पुलिस बल आने के बाद जब पुलिस वहां से निकलने लगी, महिलाओं ने उनको घेरा और विरोध किया तो महिलाओं पर लाठी चार्ज किया गया। बुरी तरह से उनको पीटा गया। लोगों ने फिर आक्रोश में हल्का-फुल्का पथराव किया, जिसके जवाब में पुलिस ने पहले हवाई फायर किया, फिर लोगों पर गोली चलाई।

## जांच दल के निष्कर्ष

दल ने 2 जुलाई को पटना मेडिकल कालेज का दौरा कर बगहा पुलिस गोलीकांड के घायलों से बातचीत की। लोगों की बात सुनने और घटना स्थल का मुआयना करने के बाद जांच दल के निम्न निष्कर्ष हैं:-

1. चंद्रेश्वर महतो के गायब होने के बाद पुलिस ने तुरंत इसका संज्ञान नहीं लिया बल्कि पहले से परेशान दरदरी के लोगों को घुमाती रही। इससे पुलिस के प्रति संशय की स्थिति उत्पन्न हुई।

2. 24 जून को थाना का घेराव थाना की निष्क्रियता के फलस्वरूप ही हुआ। थाना के घेराव के दौरान पुलिस ने लाश वाली बात क्यों कही? क्या वह भीड़ को वहां से हटाना चाहती थी? लाश का पता पुलिस को कैसे लगा? पुलिस ने बिना तपतीश किए इसकी जानकारी लोगों को क्यों दी? इन सारे सवालों का जवाब एक निष्पक्ष जांच से ही पता चल सकता है। अगर इसमें किसी तरह की साजिश थी तो उसके पीछे कौन था?

3. घटना स्थल पर पहुंचने के बाद पुलिस ने लोगों से अच्छा बर्ताव नहीं किया इसलिए बात और बढ़ी। पुलिस को संयम के साथ लोगों की बात सुननी चाहिए थी पर ऐसा नहीं हुआ। महिलाओं पर लाठी बरसाने से भीड़ आक्रोशित हुई। फिर भी पुलिस लोगों को संभाल सकती थी। क्या गोली चलानी वाली स्थिति बनी थी? लोगों के बातचीत के अनुसार कहीं नहीं लगा कि किसी पुलिसवाले को बंदी बनाकर लोग पीट रहे थे या उन पर हमला जानलेवा था। पथराव भी हल्का-फुल्का था। खेत में पत्थर होते नहीं और सड़क पर आने के कुछ देर बाद ही गोली चली। खेत से सड़क पर आने के बाद 500 मीटर से भी कम दूरी पुलिस ने तय की होगी कि उन्होंने फायरिंग शुरू कर दी। क्या सभी विकल्प समाप्त हो चुके थे?

4. बहुत सारे सवाल हैं और बिना सीबीआई की जांच के इन सवालों का सही जवाब संभव नहीं। इसलिए इस घटना को सीबीआई के हवाले किया जाए।

5. ज्यादातर मृत या घायल अपने काम से कहीं जा रहे थे तब उन्हें गोली लगी। लगता है कि वे अचानक गोलीबारी में फंस गए। गोली बिना ठीक से चेतावनी दिए दागी गई है। हवाई फायरिंग हुई है पर बहुत सीमित।

6. लोगों के बयान और बातचीत से ऐसा लगता है कि पुलिस ने घायल व्यक्तियों पर फिर से गोली चलाकर उनकी हत्या कर दी। यह बात सुनने में कई लोगों से आई कि एक बच्चे को गोली लगी पर वह जिंदा था। पुलिस ने पैरों से गर्दन दबा कर मार डाला। ब्रह्मजीत खतईत भी गोली लगने के बाद जिंदा थे और उन्हें फिर से गोली मारी गई।

7. पुलिस की बर्बरता हाल की कई घटनाओं से उजागर होती है। घटना के बाद पुलिस पर कोई ठोस कार्रवाई न होने का कारण बर्बरता थमती नजर नहीं आ रही। इसके पहले फारबिसगंज (जिला अररिया) और जमुई में पुलिस बर्बरता की घटनाएं हो चुकी हैं।

8. मृतकों के परिवार के प्रति स्थानीय प्रशासन का रवैया संवेदनहीन रहा। 24 जून की रात से लेकर 25 की शाम तक कई लोग प्रशासन के साथ थे। प्रशासन ने उन्हें शव शिनाख्त करने के लिए बुलाया था। इन लोगों को भोजन तक नहीं दिया गया। इन लोगों को शव घर नहीं ले जाने दिया गया और इसका पुख्ता इंतजाम भी नहीं किया गया कि घर से सबको श्मशान घाट पर बुला लिया जाए। सभी मृतकों के परिजनों से मिलकर बातचीत तक नहीं की गई। क्या हमारी सरकार के पास मुआवजे के अलावा जखम भरने को सांत्वना के दो शब्द भी नहीं हैं?

9. लोग डरे हुए हैं। लगता है पुलिस के डर से कई घायल खुद अपना इलाज करा रहे हैं। ब्रह्मदेव खतईत के बेटे को जांघ में गोली लगी है पर वह भयवश पुलिस के पास “इंजुरी” बनाने नहीं गए थे। इसी तरह कई ग्रामीण हमें भयभीत मिले। देवहाता की लीलावती देवी ने भय से अपना मानसिक संतुलन ही खो दिया है, ऐसा लगता है। इन्हें इलाज की जरूरत है।

10. सभी लोग जिन्हें गोली लगी है या जो मारे गए हैं, कम उम्र के युवा हैं/थे। इनके परिवार और इनके भविष्य का क्या होगा? ब्रह्मदेव और धरमजीत के छोटे बच्चे हैं, पांच लाख का मुआवजा क्या जीने के लिए काफी होगा?

# परमाणु बिजली पर चार खबरें

1

## चुटका : एक और छोटी सी जीत

31 जुलाई 2013 को मध्य प्रदेश के मंडला जिले में प्रस्तावित चुटका परमाणु बिजली कारखाने की जन सुनवाई थी। व्यापक जन विरोध को देखते हुए प्रशासन को इसे स्थगित करने का फैसला करना पड़ा। जन सुनवाई की पूरी तैयारी हो गई थी। एक विशाल शामियाना भी लगाया जा चुका था, जिसमें करीब 16 लाख रुपया खर्च हुआ होगा। लेकिन जन सुनवाई के दो दिन पहले प्रशासन ने इसे एकाएक रद्द करने का निर्णय लिया।

गौरतलब है कि दो महीने पहले भी 24 मई को जन सुनवाई आयोजित की गई थी जिसे भी जन विरोध की आशंका के चलते प्रशासन ने स्थगित कर दिया था। इस बार प्रशासन ने ज्यादा तैयारी की थी। जन सुनवाई का स्थान चुटका से बदलकर 15 कि. मी. दूर मानेगांव में रखा गया था। प्रचार, प्रलोभन आदि का भी खूब प्रयोग किया गया। कारखाने के विरोध में प्रचार कर रहे कार्यकर्ताओं को पुलिस ने धमकाने-डराने की भी कोशिश की।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस परियोजना से सीधे प्रभावित होने वाले (जिनकी जमीन जायेगी) तीनों गांव-चुटका, टाटीघाट और कुंडा-की ग्रामसभाएं सर्वसम्मति से

काफी पहले इस परियोजना के विरोध में प्रस्ताव पास कर चुकी हैं। यह पांचवी अनुसूची के तहत अधिसूचित आदिवासी इलाका है और 'पेसा कानून' के तहत किसी भी परियोजना के लिए ग्राम सभा की सहमति अनिवार्य है।

30 जुलाई को परमाणु बिजलीघर के विरोध में मानेगांव में एक सभा रखी गई थी जो विजय-सभा और जुलूस में बदल गई। इसे समाजकर्मी संदीप पांडे, गोंडवाना गणतंत्र पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष गुलजार सिंह मरकाम, समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय महामंत्री सुनील, भाकपा और भाकपा (माले) के पदाधिकारियों, जयंत वर्मा, परमाणु संघर्ष समिति के पदाधिकारियों आदि ने संबोधित किया। इस मौके पर सजप के अनुराग मोदी, परमाणु निरस्त्रीकरण और शांति समिति (सी एन डी पी) के पी के सुन्दरम, महान कोल फील्ड संघर्ष समिति सिंगरौली की प्रिया पिछर्ड आदि भी शामिल हुए। इस मौके पर एक नुकड़ नाटक भी खेला गया। चित्रों और कार्टूनों के साथ परमाणु बिजली के खतरों को समझाती एक छोटी पुस्तिका और 'जन गण मन' नामक पत्र का चुटका संघर्ष पर केंद्रित पहला अंक भी इस मौके पर जारी किया गया। **सुनील**

2

## कुडनकुलम : प्रतिरोध जारी है

जुलाई माह में कुडनकुलम परमाणु बिजली कारखाने में अणु विखंडन की प्रक्रिया शुरू कर परमाणु ऊर्जा निगम ने संयंत्र को बकायदा शुरू करने की घोषणा कर दी। स्थानीय लोग तथा देशभर के जागरूक वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी और नागरिक समूह इस कारखाने का विरोध करते रहे हैं। वैसे तो निगम ने कहा कि वह इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के अनुसार परमाणु बिजली-घर शुरू कर रहा है। लेकिन न्यायालय ने पर्यावरण मंत्रालय, तमिलनाडु प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड तथा परमाणु ऊर्जा नियमन बोर्ड द्वारा अंतिम मंजूरी दिए जाने और इस पर न्यायालय

की अंतिम हरी झंडी मिलने के बाद ही संयंत्र शुरू करने को कहा था। इस आदेश के साथ धूर्तता बरतते हुए परमाणु ऊर्जा निगम ने उसी शुक्रवार की आधी रात में कुडनकुलम संयंत्र शुरू कर दिया जिस दिन नियामक एजेंसियों ने सर्वोच्च न्यायालय को लिफाफे में अपनी रपट सौंपी। न अदालत के अंतिम फैसले का इंतजार किया गया और न ही इस मामले में दूसरे पक्ष को उक्त रपटों को देखकर अपना पक्ष रखने का मौका दिया गया।

इस तरह धोखाधड़ी से, जनभावनाओं के खिलाफ जाकर और स्वतंत्र विशेषज्ञों की आपत्तियों को अनदेखा



करके कुडनकुलम कारखाना चालू हुआ। इसी के पहले कुडनकुलम को महत्वपूर्ण मशीनों-पुरजों की आपूर्ति करने वाली रूसी कंपनी जिओ पोडोल्स्क से जुड़ा एक बड़ा घोटाला रूस में सामने आया था जिसमें कंपनी के एक निदेशक की गिरफ्तारी हुई है। चूंकि यह मामला खराब गुणवत्ता के उपकरणों की आपूर्ति से जुड़ा हुआ है, परमाणु ऊर्जा नियामन बोर्ड के पूर्व अध्यक्ष डॉ. ए गोपालकृष्णन सहित कई वैज्ञानिकों ने कारखाने पर रोक लगाने और पहले एक विस्तृत समीक्षा करने की मांग उठाई थी। लेकिन इसे अनसुना कर दिया गया।

सर्वोच्च न्यायालय ने उसी फैसले में कुडनकुलम परियोजना का विरोध कर रहे आंदोलनकारियों पर लगे

मुकदमे हटाने का आदेश भी दिया था। लेकिन राज्य सरकार इस पर टालमटोल कर रही है। चेन्नई उच्च न्यायालय को दिए एक शपथ-पत्र में राज्य सरकार ने कहा कि संयंत्र शुरू होने के बाद भी आंदोलन चालू है, इसलिए वह ये मुकदमे वापस नहीं लेगी। पूरी तरह शांतिपूर्ण आंदोलन पर लगाए इन मुकदमों में सैकड़ों की तादाद में देशद्रोह के केस बनाए गए हैं।

कुडनकुलम कारखाने से बिजली बनने में अभी छह महीने और लग सकते हैं। तब तक कई और अनियमितताएं तथा जोखिम सामने आएंगे। जाहिर है कि लोगों ने हार नहीं मानी है और लड़ाई जारी है।

**कुमार सुंदरम** 09810556134

3

## फुकुशिमा : जहरीला पानी समंदर में

जापान में फुकुशिमा के परमाणु बिजली कारखानों में दुर्घटना ढाई साल पहले हुई थी। लेकिन यह एक ऐसी दुर्घटना है, जो रुक ही नहीं रही है और लगातार जारी है। यह कहना है परमाणु विशेषज्ञ और 'कार्बन-मुक्त एवं परमाणु-मुक्त' किताब के लेखक अर्जुन मखीजानी का।

हाल में पता चला है कि फुकुशिमा में लगातार प्रतिदिन 70 से लेकर 80 हजार गेलन तक जहरीला पानी

समंदर में रिस रहा है जिसमें स्ट्रोंटियम-90 जैसे जहरीले तत्व हैं। इस रिसाव को रोकने की सारी कोशिशें असफल हो गई हैं। इस से समुद्री शैवाल, मछलियों और अंततः भोजन श्रृंखला में यह जहर शामिल हो जाएगा। मानव शरीर में यह हड्डियों में जाकर जमा होता है, क्योंकि यह कैल्शियम जैसा है।

**DiaNuke.org**

4

## चीन, ताईवान, आस्ट्रिया : लगता ब्रेक

जब भारत में कुडनकुलम परमाणु बिजली कारखाने में अणु विखंडन की प्रक्रिया शुरू की जा रही थी, उसी हफ्ते में चीन में परमाणु ईंधन प्रसंस्करण के लिए प्रस्तावित संयंत्र को रद्द करने का फैसला लिया जा रहा था। चीन के गुआनदोंङ प्रांत में प्रस्तावित 600 करोड़ डालर के इस संयंत्र के अध्ययन की रपट 4 जुलाई को प्रकाशित हुई और उसी दिन हजारों ने विरोध में जुलूस निकाला। हेशान शहर के महापौर व युशियोंग ने कहा कि वे लोगों की भावनाओं के खिलाफ जाकर इस संयंत्र को मंजूरी नहीं दे सकते।

चीन के बगल में ताईवान में भी लाखों लोगों ने परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के खिलाफ सड़कों पर प्रदर्शन करके सरकार को बाध्य किया है कि वह जल्दी ही इस मुद्दे पर जनमत संग्रह कराए। राजधारी ताइपेई के पास बनकर लगभग

तैयार देश के चौथे संयंत्र के बारे में संसद में काफी विवाद हुआ। इस साल फुकुशिमा की बरसी पर दो लाख से ज्यादा लोगों ने विरोध प्रदर्शनों में हिस्सा लिया।

यूरोप में आस्ट्रिया की राजधानी वियना में अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी का मुख्यालय है। लेकिन इस देश ने परमाणु बिजली कार्यक्रम को पूरी तरह बंद करने और देश को 100 फीसदी अक्षय ऊर्जा पर आधारित करने का फैसला लिया है। 4 जुलाई को इस बारे में एक कानून बना है। इसमें इस बात का ध्यान रखने का भी प्रावधान है कि पड़ोसी देशों से आयातित बिजली में भी परमाणु बिजली न हो। वर्तमान में आस्ट्रिया की कुल बिजली का 14 फीसदी परमाणु ऊर्जा से आती है।

**कुमार सुंदरम** 09810556134

# नियमगिरि में जनता की जीत

लिंगराज

ओड़िशा में नियमगिरि में वेदांत कंपनी की प्रस्तावित बॉक्सईट खदान पर सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गए फैसले के अनुसार ग्रामसभाओं का आयोजन किया जा रहा है। जिसमें 12 ग्रामसभाओं में से सभी ग्रामसभाओं में लोगों ने कंपनी को खनन की अनुमति न देने का प्रस्ताव पारित किया है। यह जनता की जीत है।



उल्लेखनीय है कि गत 18 अप्रैल को सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया था कि ओड़िशा सरकार नियमगिरि के आसपास की 12 ग्रामसभाओं में लोगों से इस बारे में मतदान कराए।

नियमगिरि पर्वत श्रृंखला के आसपास 112 गांव बसे हैं, इनमें से केवल 12 गांवों को चुनने का जन संगठनों ने विरोध किया था। जिसमें नियमगिरि सुरक्षा समिति व अन्य प्रतिनिधियों ने अपना विरोध जताया था। केंद्र सरकार के आदिवासी मामलों के मंत्री किशोर चंद्रदेव ने भी राज्य सरकार के इस निर्णय पर सवाल खड़े किए थे।

लेकिन 12 गांवों में 18 जुलाई से पल्ली सभा (ग्रामसभा) का आयोजन शुरू कर दिया गया। सुप्रीम कोर्ट के अनुसार रायगढ़ जिले के गांवों की ग्रामसभा के दौरान जिला जज शरतचन्द्र मिश्र और कालाहांडी जिले के गांवों में अतिरिक्त जिला जज प्रमोदचन्द्र जेना पर्यवेक्षक के रूप में उपस्थित रहे। अब सभी 12 पल्ली सभा हो चुकी हैं और उनमें लोगों ने खनन के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की है। इनमें लोगों ने नियमगिरि में किसी भी कंपनी को खदान के लिए अनुमति न देने का प्रस्ताव पारित कर दिया है।

इन 12 गांवों में से सिर्फ 2 गांवों (ताड़ी झोला और इजरुपा) में गैर आदिवासी परिवार (गऊड यानी यादव जाति) बसे हैं। लेकिन इन दोनों गांवों में भी सभी लोगों ने भी नियमगिरि में खनन का विरोध किया है। बाकी गांवों में सभी आदिवासी गांव हैं।

पल्ली सभा (ग्रामसभा) के सामने सभी मतदाताओं को अपनी बात कहने का मौका दिया जाता था। डंगरिया कंध आदिवासी अपनी भाषा 'कुई' में बात रखते थे और उसका अनुवाद ओड़िया में किया जाता था। फिर ओड़िया में कही गई बातों को उनके लिए कुई में अनुवाद किया जाता था। पल्ली सभा के अंत में प्रस्ताव को पढ़कर सुनाया और समझाया जाता और लोग दस्तखत या अंगूठा निशान देते।

पल्ली सभा (ग्रामसभा) के दौरान ग्रामीणों ने अपनी बात बेबाक तरीके से रखी जिसमें नियमगिरि का महत्व और आजीविका तथा धार्मिक व सांस्कृतिक अस्तित्व के लिए खदान कैसे विनाशकारी है यह बताया। ग्रामीणों ने सवाल किया- "जगन्नाथ मंदिर के नीचे हीरा मिलेगा तो क्या उसे ध्वंस किया जाएगा? खदान प्रोजेक्ट से पहले उनके गांव में कोई सरकारी आदमी नहीं आया, अब क्यों आ रहे हैं?" सभी लोगों का एक ही स्वर था कि- "नियमगिरि उनके लिए भगवान है, मां-बाप समान है, उसे कतई ध्वंस होने नहीं देंगे, जान देकर उसे बचाएंगे।"

हर गांव की पल्ली सभा में बड़ी संख्या में लोग उपस्थित रहते थे। शायद पहली बार लोगों को लगा होगा कि उनकी बात को सुनने के लिए सरकार उनके गांव पहुंची है।

यह एक माओवादी प्रभावित इलाका होने के कारण बड़ी संख्या में सुरक्षा बलों की तैनाती में की गई थी। उल्लेखनीय है कि माओवादियों ने परचा बांटकर लोगों को ग्रामसभा/(पल्लीसभा) का बहिष्कार करने का आह्वान किया था। लेकिन 'नियमगिरि सुरक्षा समिति' के बैनर तले संगठित लोगों ने अपनी आवाज बुलंद की और बॉक्सईट खनन के खिलाफ अपना संघर्ष जारी रखा।

समता भवन, बरगढ़, ओड़िशा।

09437056029

## गरीबों की राजनीति का संकल्प

# संघर्ष और निर्माण

“सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,  
मेरी कोशिश है कि सूरत बदलनी चाहिए”

मध्यप्रदेश, इटारसी। दुष्यंत कुमार की इन पंक्तियों के साथ समाजवादी जन परिषद की राष्ट्रीय संगठन मंत्री निशा शिवुरकर ने इटारसी में समाजवादी जन परिषद के राज्य सम्मलेन का उद्घाटन किया। स्थानीय पत्रकार भवन में 28 जुलाई 2013 को आयोजित सम्मलेन को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि आज देश में गांधी, लोहिया, जेपी, आंबेडकर, फुले की धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र पार्टी समाजवादी जन परिषद है जो विपरीत परिस्थितियों में भी अपना काम कर रही है। समय लग सकता है, लेकिन हमें सफलता जरूर मिलेगी।

सम्मलेन में प्रदेश के विभिन्न हिस्सों से एक सौ के करीब प्रतिनिधियों ने भाग लिया जो खंडवा, हरदा, बैतूल, होशंगाबाद, जबलपुर, रीवा आदि विभिन्न जिलों से आए थे। इनमें आदिवासियों, दलितों, महिलाओं की अच्छी संख्या थी। सम्मलेन की शुरुआत गुलिया बाई एवं साथियों के क्रांति गीत ‘जान जावे तो जावे, हक मेरा ना जावे’ से हुई।

सम्मलेन में पारित एक प्रस्ताव में कहा गया कि मध्यप्रदेश में जनता की हालत अच्छी नहीं है। मुख्यधारा की दोनों पार्टियों की नीतियां जन विरोधी हैं। राज्य सरकार और केंद्र सरकार एक दूसरे को दोष देते रहते हैं जबकि दोनों मिलकर जनता को लूट रहे हैं। इसलिए प्रदेश में एक नई राजनीति खड़ी करनी पड़ेगी और यह काम समाजवादी जन परिषद करेगी। इसी लक्ष्य के साथ वह आगामी चुनावों में हस्तक्षेप

करेगी। मध्यप्रदेश सरकार के विकास के दावों को झूठा बताते हुए कहा गया कि यह कंपनियों का विकास है, जनता का नहीं।

समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय महामंत्री सुनील भाई ने इस मौके पर कहा कि समाजवादी जन परिषद एक ऐसी पार्टी है जो निचले वंचित तबके के लिए संघर्ष कर रही है। ओडिशा में नियमगिरि के पहाड़ों में वेदांत कंपनी के खिलाफ आदिवासियों के संघर्ष में समाजवादी जन परिषद की प्रमुख भूमिका का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा की भले ही हम थोड़े हों, हम दिल्ली में न हों, प्रांतीय राजधानियों में न हों, लेकिन हम सुदूर अंचलों में संघर्ष कर रहे हैं।

समाजवादी जन परिषद के वरिष्ठ साथी अनुराग मोदी, बैतूल के मंगल सिंह, इटारसी के साहब खान, हरदा के शाकिर खान, जबलपुर की ममता शर्मा, पिपरिया के बाबा मायाराम ने भी अपने विचार रखे। सम्मलेन में आमंत्रितों में अररिया-कटिहार (बिहार) के जितेन्द्र भाई ने अपने विचारों के साथ वहां के संघर्ष के गीत भी सुनाए।

सम्मलेन के अंत में अगले वर्ष के लिए 20 सदस्यों की नई राज्य कार्यकारिणी का चुनाव हुआ। प्रदेश अध्यक्ष पद पर शाहपुर (बैतूल) के राजेन्द्र गढ़वाल एवं प्रदेश महामंत्री पद पर केसला (होशंगाबाद) के फागराम को सर्वसम्मति से चुना गया। उषा सोनी (रीवा), ममता शर्मा (जबलपुर) और मंगल सिंह (बैतूल) को प्रदेश उपाध्यक्ष, राघवेन्द्र कुमार (जबलपुर), बाबा मायाराम (पिपरिया) को प्रदेश सचिव, श्रीगोपाल गांगूड़ा को कोषाध्यक्ष चुना गया।

फागराम 07869717160

## महाराष्ट्र सजप अधिवेशन

**महाराष्ट्र, औरंगाबाद।** गत 2 जून को औरंगाबाद में समाजवादी जन परिषद का राज्य अधिवेशन संपन्न हुआ। इस मौके पर राज्य कार्यकारिणी और पदाधिकारियों का भी चयन किया गया। अधिवेशन में विशेष अतिथि के रूप में सजप के वरिष्ठ साथी सुनील भाई मौजूद थे।

अधिवेशन में सुभाष गायकवाड़ ने राजनैतिक स्थिति पर प्रस्ताव पेश किया जिसका कासम भाई और सुमन उफाड़े ने अनुमोदन किया। इस अवसर पर 2 वर्षों के लिए कार्यकारिणी भी चुनी गई। इसके तहत राज्य अध्यक्ष सुभाष लोमटे (औरंगाबाद), उपाध्यक्ष जगदेव वाघमारे

(ठाणे), कासम भाई (खुलताबाद), महामंत्री अप्पाराव मोरताटे (परभणी), सचिव अंगद कांबले (लातूर), देवीदास कीर्तिशाह (औरंगाबाद), कोषाध्यक्ष शांताराम गोसावी (संगमनेर) आदि चुने गए। इसके अलावा निर्मला भालके, हिराबाई पुरी, सुमन उफाड़े, संजय नेफड़े, संजीवनी दिलाटे, रघुवीर रावराने, रामकुमार रायवाड़ी कर, सत्यभामा तिहये, सब्बमिल सादंत आदि की नियुक्ति की गई। अधिवेशन में समाजवादी जन परिषद को राज्य में बढ़ाने का संकल्प लिया गया।

**अप्पाराव मोरताटे**

## नर्मदा बांध प्रभावितों का सत्याग्रह

**मध्यप्रदेश, भोपाल।** नर्मदा घाटी में बन रहे ओंकारेश्वर, इंदिरा सागर, महेश्वर, मान और अपर बेदा बांधों के हजारों प्रभावितों ने राजधानी भोपाल में विशाल प्रदर्शन कर सत्याग्रह किया। संपूर्ण नर्मदा घाटी में निरंतर गत 28 जून को बारिश के बावजूद 8 हजार से अधिक महिला-पुरुष प्रभावितों ने राजधानी भोपाल में डेरा जमाया। प्रभावितों की मांग है कि पुनर्वास नीति के अनुसार सभी प्रभावितों की जमीन और पुनर्वास को सभी अधिकार देकर बसाया जाए और वर्षों से उनके साथ हुए अन्याय को समाप्त किया जाए।

यादगारे शाहजनी पार्क से रैली निकालकर मोती मस्जिद होते हुए कमला पार्क के समक्ष मुख्यमंत्री के नाम ज्ञापन दिया गया और वहां से नीलम पार्क पर आकर

सत्याग्रह एवं उपवास प्रारंभ हुआ। जीवन अधिकार सत्याग्रह व उपवास के दौरान 5 दिन के उपवास में नर्मदा आंदोलन के कार्यकर्ता आलोक अग्रवाल के साथ ओंकारेश्वर बांध प्रभावित कला बाई, सकु बाई, महेश्वर बांध प्रभावित भागवती बाई और इंदिरा सागर बांध प्रभावित किशोर चौहान ने उपवास किया।

उल्लेखनीय है कि नर्मदा घाटी में बन रहे ओंकारेश्वर, इंदिरा सागर, महेश्वर, मान और अपर बेदा बांधों में समान पुनर्वास नीति है जिसमें विस्थापितों को जमीन एवं अन्य सुविधाएं देकर बांध निर्माण/डूब आने के पहले बसाना है। परंतु पुनर्वास नीति का पालन नहीं किया गया है इस कारण विस्थापित अत्यंत खराब और दयनीय स्थिति में पहुंच गए हैं।

**आलोक अग्रवाल**

## बगहा गोलीकांड का विरोध

**बिहार, पश्चिमी चंपारण।** 24 जून को बगहा अनुमंडल में पुलिस के द्वारा किए गए गोलीचालन को लेकर 26 जून को बेतिया में समाजवादी जन परिषद की बैठक हुई। इसके बाद सजप की ओर से अमानुल हक ने मौके पर जाकर जानकारी ली।

इसके बाद सजप की ओर से जिला मजिस्ट्रेट

को ज्ञापन दिया गया। इस ज्ञापन में दोषी पुलिसकर्मियों को बरखास्त करने, एसपी तथा डीएसपी का तबादला करने, मृतकों के परिजनों को 5 लाख तथा घायलों को 1 लाख रुपए का मुआवजा देने की मांग की गई।

**अमानुल हक**

# वन अधिकार लागू करने के लिए संघर्ष

**मध्यप्रदेश, सिंगरौली।** पिछले दिनों अमिलिया (सिंगरौली) में महान संघर्ष समिति द्वारा वन अधिकार सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में कुल ग्यारह गावों के ग्रामीणों ने एक जुट हो अपने जंगल को कोयला खदान में न बदलने का संकल्प लिया। सम्मेलन में आए लोगों ने एक स्वर में वन अधिकार अधिनियम के तहत अपने जंगल पर अधिकार लेने संबंधी घोषणा पत्र को पारित किया। नियमगिरि में ग्रामसभाओं की सफलता से प्रेरित और केंद्रीय जनजातीय मामलों के मंत्री के.सी. देव से दिल्ली में मुलाकात के बाद उत्साहित महान संघर्ष समिति ने ग्रामीणों से अपील की है कि वे कोयला खदान के खिलाफ उनकी लड़ाई में साथ दें।

जन संघर्ष मोर्चा के अनुराग मोदी ने महान संघर्ष समिति का समर्थन करते हुए कहा कि “मध्यप्रदेश सरकार का विकास का पूरा मॉडल असफल हो चुका है। चाहे कोयले से बिजली बनने वाली हो या परमाणु से बिजली उत्पादित किया जाए। यह सब सिर्फ प्रदेश के संसाधन की लूट ही साबित हुई है। इस विकास के मॉडल पर पुनर्विचार करने की जरूरत है। थोड़े समय की बिजली के लिए संसाधनों को नष्ट करना बंद करना होगा”।

सम्मेलन में भाग लेने आए जन संघर्ष मोर्चा के अन्य नेता सुनील भाई, माधुरी कृष्णास्वामी, जनचेतना मंच के राजेश, एमएमपी के युसुफ भाई आदि ने भी इस आंदोलन का समर्थन किया। महान संघर्ष समिति के सदस्य और अमिलिया गांव निवासी बेचनलाल ने कहा कि “केंद्रीय मंत्री के समर्थन से हमारा उत्साह बढ़ा है लेकिन हमें नियमगिरि की तरह स्थानीय स्तर पर लड़ाई को मजबूत करना होगा”।

उल्लेखनीय है कि 19 जुलाई को एक संयुक्त

प्रेस सम्मेलन में केंद्रीय जनजातीय मंत्री के.सी. देव ने मध्यप्रदेश सरकार की वनाधिकार कानून के उल्लंघन के लिए निंदा की। उन्होंने गांव वालों को आश्वस्त किया कि अमिलिया ग्रामसभा में पारित उस प्रस्ताव की जांच की जाएगी, जिसमें खदान के प्रस्ताव को हरी झंडी दे दी गई। आरटीआई की मदद से निकाले गए उस प्रस्ताव की कॉपी से पता चला है कि उसमें ज्यादातर हस्ताक्षर फर्जी हैं और कई हस्ताक्षरित नाम के लोगों का निधन भी हो चुका है।

महान संघर्ष समिति के साथ काम कर रही ग्रीनपीस की प्रिया पिल्लई ने कहा कि “महान कोल ब्लॉक को कोयला खदान आवंटन करने का मतलब होगा 14,190 लोगों के जीविकोपार्जन को खत्म करना। 2001 जनगणना



के अनुसार इनमें से 5,650 आदिवासी समुदाय के लोग हैं। महान कोल ब्लॉक आवंटित करने का मतलब यह भी होगा कि दूसरे कोल ब्लॉक के लिए दरवाजे खोल देना। इससे पूरे क्षेत्र के जंगल टुकड़ों में बदल जाएंगे।”

सम्मेलन में पारित ‘महान घोषणापत्र’ में सर्वसम्मति से फैसला लिया गया कि महान के लोग अपने जंगल-जमीन को नहीं छोड़ेंगे। साथ ही, शांतिपूर्वक तरीके से वनाधिकार कानून लागू करवाने के लिए एकजुट होकर संघर्ष करेंगे। महान जंगल पर निर्भर गावों के लोगों ने हाल ही में अपने संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए महान संघर्ष समिति का गठन किया।

**पंकज सिंह 07389205584**

## वनकर्मियों की पिटाई से आदिवासी की मौत

मध्यप्रदेश, बैतूल। जंगल पर अधिकार की लड़ाई में वनकर्मियों की पिटाई से 55 वर्षीय बिसन गोंड की मौत हो गई। बैतूल जिले के इस आदिवासी गांव चूनाहजूरी लोगों ने गत दिनों उसे अंतिम विदाई दी। जंगल जमीन के जिस टुकड़े पर कब्जे को लेकर 12 दिन पहले वन विभाग वालों ने उसे बंदी बनाकर बुरी तरह मारा था, वहीं उसे दफन कर उसकी समाधि बनाई गई। इस घटना से यह स्पष्ट हो गया कि मध्यप्रदेश सरकार कारपोरेट घरानों और संघ परिवार को जमीन लुटाने में मेहरबान है, वहीं वो आदिवासियों को वन अधिकार अधिनियम कानून के तहत भी उनका हक देने की बजाए उनका दमन कर रही है।

श्रमिक आदिवासी संगठन के मंगलसिंह ने कहा कि जंगल पर अपना हक मांगने वाले आदिवासियों को कब तक मौत देते रहेगी सरकार। उन्होंने आगे बताया कि वन विभाग के कर्मचारियों ने गैरकानूनी रूप से अतिक्रमण हटाते हुए बिसन गोंड को पहले 28 जुलाई को पीटा, इसके बाद उसे 29 जुलाई को विभाग ने उसे चूनाहजूरी रेंज कार्यालय में बंदी बनाकर रखा और उसकी भयानक पिटाई की और उसे सरकारी काम में रुकावट डालने और वन अपराध में जेल भेज दिया। जहां से वो 31 जुलाई को छूटा। पिटाई के बाद से ही से बिसन दर्द से बुरी तरह कराहता रहा और आखिर 11 अगस्त सुबह उसकी मौत हो गई।

समाजवादी जन परिषद के प्रदेश अध्यक्ष राजेंद्र गढ़वाल ने बताया इस संबंध में आदिवासियों ने 29 जुलाई



को हरिजन कल्याण थाने बैतूल में शिकायत की थी। लेकिन, पुलिस ने आज तक इस संबंध में कोई कार्रवाई नहीं की। इस मामले में कार्रवाई की मांग को लेकर आदिवासियों ने 10 अगस्त से बीजादेही थाने का घेराव किया। जब 11 अगस्त को लोगों ने बिसन की लाश के साथ बीजादेही थाने पर धरना दिया और वनकर्मियों के खिलाफ हत्या या अपराध दर्ज करने हेतु बिसन गोंड के लड़के ने आवेदन दिया तब पुलिस ने लाश का पोस्टमार्टम किया। लेकिन पुलिस ने अब तक दोषी वनकर्मियों के खिलाफ कोई भी अपराध पंजीबद्ध नहीं किया है। आजादी के 66 साल बाद भी सरकार आदिवासियों पर अंग्रेजों की तरह अत्याचार से बाज नहीं आती।

राजेंद्र गढ़वाल

## जंगल-जमीन के लिए बैगाओं का सत्याग्रह

मध्यप्रदेश, मंडला। देश की संकटग्रस्त आदिम जनजातियों में से एक बैगा है, जिनको बचाने के लिए सरकार करोड़ों रुपया खर्च करती है। लेकिन उनके जिंदा रहने के लिए जो असली जरूरत है, जंगल और जमीन पर अधिकार, वह उनको नहीं देना चाहती है। मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के कई इलाकों में बैगाओं पर अत्याचार की खबरें आ रही हैं। छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले की एक

खबर वार्ता के पिछले अंक में थी। इस कड़ी में मध्यप्रदेश की एक और अत्याचार गाथा सामने आई है।

मंडला जिले के मवई ब्लाक की ग्राम पंचायत मड़फा के तहत मसना गांव के बैगा जिस वनभूमि पर खेती करते हैं, उसका दावा वनाधिकार कानून के तहत ग्रामसभा ने मंजूर कर लिया था। इसके बावजूद 7 से 9 अगस्त 2012 तक वन विभाग ने उनकी फसल और

झोपड़ियां नष्ट कर दी और उसमें अपना वृक्षारोपण शुरू कर दिया। 24 बैगा पुरुषों और 8 महिलाओं को मंडला में 24 घंटे बंदी बना कर रखा। इस अन्याय के विरोध में बैगा आदिवासियों ने 9-13 अगस्त तक पांच दिन का सामूहिक उपवास किया। तब मंडला कलेक्टर ने वहां पहुंचकर उनकी जमीन पर सरकारी वृक्षारोपण बंद करवाया और कार्रवाई का आश्वासन दिया। लेकिन कोई कार्रवाई नहीं हुई।

27-28 अप्रैल 2013 को फिर वनविभाग उसी

जमीन पर फेंसिंग के लिए तार-खंभे गिराने लगे। 3 मई को 6 बैगा पुरुषों को पकड़कर जेल भेज दिया। 30 जून से तार-खंभे गाड़ना शुरू कर दिया। इस अन्याय के विरोध में उसी जमीन पर 3 जुलाई से बैगाओ ने धरना-सत्याग्रह शुरू कर दिया। पांच महिलाएं एक वक्त का उपवास कर रही हैं। उनकी मांग है कि 'पेसा कानून' और वनाधिकार कानून को लागू किया जाए और जंगल-जमीन पर उनके हक को मान्यता दी जाए।

ध्रुव भाई 09165430169

## पगार गोलीकांड की सीबीआई जांच की मांग

**झारखंड, हजारीबाग।** इस जिले की कर्णपुरा घाटी में ग्रामीणों ने अपनी जमीन के नीचे के कोयले पर अपना अधिकार जताया है और बड़ी कंपनियों को कोयला निकालने नहीं देने का निश्चय किया है। उन पर हमले शुरू हो गए हैं। 7 जुलाई और 23 जुलाई के पगार (केरेडारी) गोलीकांड को समझने तथा स्थानीय आंदोलन को बल देने के लिए देश एवं प्रदेश के प्रमुख आंदोलन समूहों के प्रमुख सदस्यों के एक दल ने अखिल भारतीय सर्वोदय मंडल के पूर्व अध्यक्ष अमरनाथ भाई के नेतृत्व में पगार एवं कुसुंभा गांव का दौरा किया तथा वहां सभा की।

26 जुलाई 2013 की पहली सभा गोलीकांड के प्रभावितों के गांव पगार में हुई जहां शहीद केसर महतो की पत्नी तथा मखन वर्मा, राकेश महतो, एवं कमलनाथ महतो उपस्थित हुए। इस सभा में पगार पंचायत के मुखिया झरीलाल महतो उपस्थित थे।

सभा का संचालन डा मिथिलेश दांगी ने किया। गोलीकांड में घायलों की स्थिति एवं घटना का जायजा लिया गया। कमलनाथ महतो के अनुसार एनटीपीसी ने ग्रामसभा में पारित शर्तों का उल्लंघन कर अपने ठेकेदार के माध्यम से कार्य शुरू करवाया। इस पर गांववाले सामूहिक रूप से उन्हें ऐसा करने से मना करने के लिए कार्य स्थल पर गए।

इसी बात पर ठेकेदार के बेटे ने अचानक पीछे से कुदाल से सिर पर वार कर दिया। ज्यों ही कमलनाथ महतो घायल हुए, कुछ लोग हमलावरों को रोकने के लिए दौड़े तो वे लोग गांव में एक घर में घुस गए और पुलिस को फोन कर दिया। गांव वालों ने घर को घेर

लिया। इसी बीच पुलिस आई और हमलावरों को बाहर निकालकर ले जाने लगी और बिना किसी चेतावनी के गोली चलाने लगी। जिसमें पांच लोगों को गोली लगी।

घायलों के बयान के बाद दल के सदस्यों ने लोगों से शांति बनाए रखने तथा आगे मिल-जुलकर जमीन बचाने के संघर्ष को जारी रखने के लिए कहा। उन्होंने बताया कि सर्वोच्च न्यायालय ने 8 जुलाई 2013 को एक ऐतिहासिक फैसला दिया है जिसमें कहा गया कि खनिज पर अधिकार जमीन मालिक का है, सरकार का नहीं। अतः कोयले के मालिक अब गांव के किसान हैं, एनटीपीसी नहीं। अब एनटीपीसी और सरकार गैर कानूनी काम कर रहे हैं। लोगों ने घोषणा की कि कर्णपुरा का यह आंदोलन अब राष्ट्रीय आंदोलन है।

पगार सभा के बाद सभी आंदोलनकारी कुसुंभा गांव पहुंचे। 7 जुलाई 2013 को इसी गांव में एक सभा के दौरान कंपनी और सरकार के पक्षधर स्थानीय उग्रवादी संगठन (झारखंड प्रस्तुति कमेटी) के तीन उग्रवादी आंदोलन के वरिष्ठ साथी डॉ. मिथिलेश दांगी को पत्नी सहित अपहृत कर जंगल ले गए। वहां उन्हें कंपनी का विरोध करने के कारण मारपीट कर प्रताड़ित किया। कुसुंभा में आयोजित सभा में सभी वक्ताओं ने दोनों घटनाओं की निंदा की तथा एक प्रस्ताव पारित किया।

इस प्रस्ताव में गोलीकांड व हमले की भर्त्सना करते हुए इसकी सीबीआई से जांच की मांग की गई तथा एनटीपीसी को दी गई खनन लीज को रद्द करने की मांग की गई।

-मिथिलेश दांगी

# भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा के लिए उपवास

नई दिल्ली। समाजवादी जन परिषद की ओर से देश के राजकाज, न्यायपालिका और शिक्षा में भारतीय भाषाओं को लागू करने की मांग को लेकर जंतर- मंतर पर 7 से 9 अगस्त तक उपवास कार्यक्रम चलाया गया। पार्टी के अन्य मुद्दों में नई आर्थिक नीति का विरोध और बढ़ रहे पुलिस जुल्म का प्रतिकार शामिल था। इस दौरान चले विचार मंथन में आगामी दिनों में जल्दी ही भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा को लेकर दिल्ली में एक राष्ट्रीय सम्मेलन करने का विचार उभर कर आया।

तीन दिनों के उपवास पर समाजवादी जन परिषद के वरिष्ठ साथी राजेन्द्र कुमार बिंदल थे। अतुल कुमार और इकबाल अभिमन्यू ने एक-एक दिन का उपवास रखा। इस दौरान लगभग 150 लोगों ने उपवास स्थल पर आकर पार्टी के मुद्दों पर अपना समर्थन जताया। समर्थन जताने में कई सहमना संगठनों ने भी भूमिका निभाई। 8 अगस्त की शाम हुई गोष्ठी में देशी भाषाओं पर काम करनेवाले अनेक साथियों ने शिरकत की और अपने विचार रखे।

सजप का भाषा संबंधी यह कार्यक्रम मूलतः सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट में भारतीय भाषाओं को लागू करने की

मांग को लेकर 225 दिनों तक दिल्ली के कांग्रेस मुख्यालय पर धरना दे चुके श्यामरूद्र पाठक के आंदोलन के समर्थन में पार्टी की सोच के अनुरूप था। गोष्ठी में श्यामरूद्र पाठक, प्रेमपाल शर्मा, समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय सचिव अफलातून, सुयश सुप्रभ, सुधीर सुमन, फणीश श्रीवास्तव, अभिषेक श्रीवास्तव आदि ने प्रमुख रूप से अपने विचार रखे।

कार्यक्रम के दौरान पुलिस प्रशासन का जुल्म भी सामने आया जब 8 अगस्त की सुबह 5 बजे आंदोलनकारियों के सोते समय नई दिल्ली नगरपालिका परिषद के कर्मचारियों और पुलिस के दल ने बैनर- पोस्टर फाड़ डाले और तंबू उखाड़कर ले गए। बाद में लगातार हो रही बारिश में पार्टी की ओर से प्लास्टिक के तंबू में कार्यक्रम को पूर्ण किया गया।

कार्यक्रम के अंतिम दिन 9 अगस्त को सभा का आयोजन किया गया। अंत में श्यामरूद्र पाठक ने अनशन पर बैठे साथियों को नारियल का पानी पिलाकर अनशन खत्म कराया।

अतुल कुमार 09971052227

## चले देश में देशी भाषा

उत्तरप्रदेश, वाराणसी। उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय में भारतीय भाषाओं में कामकाज की मांग को लेकर समाजवादी जन परिषद ने 17 अगस्त को जिला मुख्यालय पर धरना दिया।

इस बारे में श्यामरूद्र पाठक द्वारा दिल्ली में किए

जा रहे सत्याग्रह का समर्थन भी किया गया। धरने में लगाए गए बैनर में समाजवादी आंदोलन का पुराना नारा था- 'गांधी-लोहिया की अभिलाषा, चले देश में देशी भाषा।'

अफलातून 08004085923

## मेडिकल कॉलेज के लिए धरना

बिहार, पश्चिमी चंपारण। बेतिया में मेडिकल कॉलेज की मांग को लेकर समाजवादी जन परिषद ने 24 जुलाई को धरना दिया। पांच साल पहले मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने बेतिया मेडिकल कॉलेज का शिलान्यास किया था। लेकिन आज तक कॉलेज भवन, आईसीयू, स्टाफ निवासी और छात्रावास नहीं बने तथा पढ़ाई के सत्र चालू

नहीं हुए।

धरने में कॉलेज निर्माण संघर्ष समिति के संयोजक ठाकुर प्रसाद त्यागी, सजप की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य संतुभाई संत, अमानुल हक, दीनानाथ दीन, एसके राव, धर्मेन्द्र कुमार, उपेंद्र मिश्रा आदि शरीक हुए।

अमानुल हक



## यदि आपको वार्ता नहीं मिली है तो....

हर दूसरे महीने में 5-6 तारीख तक सामयिक वार्ता डाक से भेज दी जाती है। इन दिनों डाक व्यवस्था बिगड़ने से आपको मिलने में देरी हो सकती है। यदि महीने के अंत तक आपको वार्ता न मिले तो-

- ♦ कृपया चेक करें कि आपका शुल्क तो खतम नहीं हो गया है (शुल्क समाप्त होने की सूचना वार्ता में ही परची रखकर दी जाती है)।
- ♦ अपने डाक घर में पूछताछ करें।
- ♦ हमें सूचित करें। आपका पता हमें फिर से बताएं, ताकि हम अपने रजिस्टर में उसकी जांच कर सकें।
- ♦ वार्ता के प्रतिनिधियों की सूची वार्ता में दी जाती है। उनसे संपर्क करके दूसरी प्रति ले लें।

प्रबंधक 09993737039

## वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंदा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वा नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लॉक, खूटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 252 ई, पाकेट डी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनार्ई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला होशंगाबाद, म.प्र. फोन 09425408801

ग्राहक शुल्क भी इनके पास जमा कर सकते हैं।

## गांववासी की लंगोटी

बाबा मायाराम उस दिन विचलित दिखे। वे एक स्वतंत्र पत्रकार हैं, सामयिक वार्ता के उपसंपादक हैं। मध्यप्रदेश के सतपुड़ा अंचल के आदिवासियों और अन्य ग्रामवासियों की हालत पर उन्होंने कई छोटी-छोटी रपटें बनाई हैं, जिनका संकलन 'सतपुड़ा के बाशिंदे' शीर्षक से पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें खास तौर पर इस इलाके में कई परियोजनाओं से हुए विस्थापन की त्रासदी उभर कर आती है। यह त्रासदी लगातार चालू है। हाल ही में सतपुड़ा टाईगर रिजर्व से कई आदिवासी गांवों को ठीक बरसात से पहले हटाकर बाहर लाकर पटक दिया गया, बिना घर के और बिना रोजगार के।

लेकिन बाबा की पीड़ा महज इसी को लेकर नहीं थी। उनकी जो चरचा होशंगाबाद के एक मित्र से हुई, वह भी बैचेनी का कारण थी। उस मित्र ने कहा कि बाबा तुम क्यों परेशान हो रहे हो? यह तो मानव सभ्यता का नियम है। वे लोग कब तक जंगल में महुआ बीनते रहेंगे? उन्हें बाहर आना ही होगा, रोजगार की तलाश में बाहर निकलना होगा, नए पेशे अपनाने पड़ेंगे। पूरे मानव इतिहास में ऐसा हुआ है। इसमें नया क्या है?

यह मित्र प्रगतिशील बुद्धिजीवी हैं, मार्क्सवादी पृष्ठभूमि के हैं और वामपंथी माहौल के लिए प्रसिद्ध जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त हैं। बाबा सोच रहे थे कि वे कैसे इतने संवेदनहीन हो सकते हैं? आदिवासियों पर विस्थापन के कहर को कैसे जायज ठहरा सकते हैं?

चरचा चली तो बाबा ने बताया कि दिल्ली स्थित विकासशील समाज अध्ययन केन्द्र (सीएसडीएस) से जुड़े एक प्रोफेसर ने भी एक बार इसी तरह की बातें कही थी। किसानों की आत्महत्याओं के संदर्भ में उन्होंने कहा था कि किसान खेती क्यों नहीं छोड़ देते? वे दूसरे रोजगार क्यों नहीं अपनाते? उन्हें आत्महत्या करने की क्या जरूरत है?

मुझे इस संदर्भ में एक और वाक्या याद आ गया। शायद 18-20 साल पहले की बात होगी। बोरी अभयारण्य के गांववासी उन्हें हटाने की योजना का विरोध कर रहे थे और किसान आदिवासी संगठन उनकी मदद कर रहा था।

वन विभाग के अफसरों से बहस हो रही थी। डीएफओ (वनमंडल अधिकारी) ने हम पर आरोप लगाते हुए कहा, 'आप लोग आदिवासियों को लंगोटी में रखना चाहते हैं'। हमने जवाब दिया, 'आप तो वह लंगोटी भी छीन लेना चाहते हैं'।

इस छोटे से संवाद में पूरे मामले का मर्म छिपा है। जहां भी गांववासियों को अपने जंगल, खेती और गांव से बेदखल करने की कोशिश की जाती है तो उन्हें बेहतर जिंदगी का सब्जबाग दिखाया जाता है। लेकिन अनुभव यही है कि ज्यादातर उनकी हालत बुरी और बदतर हो जाती है। नई जगह आकर वे दिहाड़ी के मजदूर बन जाते हैं, लकड़ी गट्टा बेचते हैं, रिक्षा चलाते हैं और शहरों की झोपड़पट्टी में गंदगी के बीच कीड़ों-मकोड़ों की तरह जीने को अभिशप्त होते हैं।

इसका मुख्य कारण पुनर्वास की कमी, अफसरों की लापरवाही या भ्रष्टाचार नहीं होता। बेहतर पुनर्वास नीति या पैकेज से यह समस्या हल नहीं हो सकती। कोई अफसर संवेदनशील होगा या कहीं पर विस्थापितों का आंदोलन बहुत प्रबल होगा, तो इक्के-दुक्के मामलों में कुछ बेहतर हालात हो सकते हैं। लेकिन वे अपवाद ही होंगे। नियम यही है कि जल-जंगल-जमीन से जुड़े समुदायों को जब अपने संसाधनों से बेदखल किया जाता है तो उनकी तबाही ही होती है और अंततः वे शहरी स्लमवासी गरीब मजदूरों की तादाद ही बढ़ाते हैं।

इसका कारण यह है कि जब बड़े पैमाने पर जल-जंगल-जमीन से जुड़े समुदायों को अपने संसाधनों से बेदखल किया जाता है, तो इतनी बड़ी तादाद का कहीं खपना मुश्किल है। उन सबका समुचित पुनर्वास (इस अर्थ में कि जिंदगी पहले से बदतर न हो) संभव ही नहीं है। खास तौर पर तब, जब आकार लेती पूंजीवादी व्यवस्था (जिसके चलते उन्हें विस्थापित किया जा रहा है) में मशीनीकरण के चलते रोजगार कम होते जा रहे हों। सीएसडीएस में मिले उन प्रोफेसर के लिए कहना आसान है, लेकिन सवाल यह है कि संकटग्रस्त किसान जाएं तो कहां जाएं? इतनी बड़ी तादाद में दूसरा रोजगार उन्हें कहां मिलेगा? और

किसान परिवारों के जो बेटे बाहर ठीक-ठाक रोजगार हासिल कर पाते हैं, वे चले ही जाते हैं। बाकी की तो मजबूरी है जो शहरी बुद्धिजीवियों को समझ नहीं आती। जैसे एकाध पेड़ को उखाड़कर दूसरी जगह लगाया जा सकता है, लेकिन बड़ी तादाद में पेड़ों को उखाड़कर दूसरी जगह लगाने की योजना तबाही में बदल जाएगी, वैसा ही मामला किसानों व आदिवासियों का है जिनके जीवन की गहरी जड़ें अपने परिवेश में होती हैं।

एक और कोण से इसे देखना चाहिए। बड़े पैमाने पर यह विस्थापन पूंजीवादी विकास की एक अनिवार्य प्रक्रिया है। उसकी दो जरूरतें इससे पूरी होती हैं। एक तो कंपनियों को प्राकृतिक संसाधन दोहन के लिए मिल जाते हैं। दूसरा, विस्थापित होने वाले लोग बेरोजगारों की संख्या बढ़ाते हैं और सस्ते मजदूर मुहय्या कराते हैं। इंग्लैण्ड में सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रांति के शुरुआती दिनों में यही हुआ था। इसे मार्क्स ने 'पूंजी का आदिम संचय' का नाम दिया था।

इंग्लैण्ड के लिए यह संक्रमण अवस्था भी। बाद में पूंजीवादी विकास का लाभ उन्हें मिला और सबकी अवस्था बेहतर हो गई। इसी को देखते हुए कई बुद्धिजीवी उम्मीद

करते हैं कि भारत जैसे देशों में भी भविष्य में सबको विकास के फायदे मिलेंगे। लेकिन ऐसा सोचने वाले बड़ी भूल करते हैं। वे दोनों स्थितियों में ऐतिहासिक फरक को देख नहीं पाते। इंग्लैण्ड को पूरी दुनिया में उपनिवेश बनाने और उन्हें लूटने का मौका मिला, जिसका कुछ हिस्सा इंग्लैण्ड की जनता को भी मिला। फिर पश्चिमी यूरोप में परिवेश से उजड़े और बेरोजगार हुए लोग पूरी दुनिया में फैल गए। अमरीका के दोनों महाद्वीपों और आस्ट्रेलिया महाद्वीप पर तो यूरोप के लोगों ने पूरा कब्जा कर लिया। अफ्रीका और एशिया के कई हिस्सों पर भी उन्होंने कब्जा जमाया और लूटा।

आज भारत या किसी अन्य देश के पास दुनिया को लूटने की यह सुविधा नहीं है और न ही ऐसा करना उचित व नैतिक है। इसीलिए भारत सहित गैर-यूरोपीय दुनिया में पूंजीवादी का विकास अलग ढंग से हो रहा

है। यहां इसका चेहरा ज्यादा कुरूप व ज्यादा भयानक है। यहां पूंजीवादी विकास के चलते बड़े पैमाने पर विस्थापन, अभाव, कंगाली, कुपोषण पैदा हो रहे हैं जिनके खतम होने की कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती। पश्चिमी यूरोप में (औपनिवेशिक लूट की सुविधा के कारण) जो संक्रमण काल था, वह भारत जैसे देशों में स्थायी नियति बन गया है।

इस फरक को नहीं समझ पाने के कारण कई बार पूंजीवाद का स्वागत किया जाता है। सिंगूर-नंदीग्राम के विस्थापन को भी माकपा नेताओं ने यही कहकर उचित ठहराया था कि औद्योगिकरण जरूरी है। पूंजीवादके आने के बाद ही तो समाजवाद आया। इसके पीछे इतिहास की दोषपूर्ण मार्क्सवादी समझ भी है, जो मानती है कि दुनिया का इतिहास एक सीधी रेखा (सामंतवाद, पूंजीवाद, समाजवाद) में ही चलेगा। यह तय है। इसे बदला नहीं जा सकता। जो यूरोप में हुआ, वही पूरी दुनिया में होगा। इसलिए लोगों को उजाड़कर, बेदखल कर, विकास

करने का मतलब इतिहास में आगे जाना है। यह दोषपूर्ण यूरोप-केंद्रित समझ मार्क्स के कई अनुयायियों की है और पश्चिमी पूंजीवादी विकास के समर्थकों की भी है।

लोगों का उजड़ना, बेदखल होना, पलायन स्वाभाविक है, मानव इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है शिकार युग से कृषि युग और फिर औद्योगिक युग आया है, ऐसा कहने वाले लोग एक और बात नहीं समझ पाते हैं। इतिहास में ऐसे परिवर्तन काल बहुत लंबे रहे हैं। सैकड़ों-हजारों सालों में ये बदलाव हुए हैं। लेकिन अब तो चंद सालों में बड़े पैमाने पर लोगों को परिवेश से खदेड़ा जा रहा है और एकदम नई परिस्थितियों में फेंका जा रहा है। सच्चाई यह है कि पूंजीवाद की प्राकृतिक संसाधनों की लूट और सस्ते मजदूरों के शोषण की जरूरत बहुत ज्यादा है, पूरी दुनिया के स्तर पर इसे किए बिना पूंजीवाद चल नहीं सकता, संकटग्रस्त हो जाता है। यह विनाश अभूतपूर्व है। ऐसा मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ है। इसे स्वाभाविक मानना, इसे स्वीकार करना व चुपचाप देखना अमानवीय है और अपराध है।

सुनील

आखिरी पन्ना

# राहुल का दरिद्र दर्शन

- प्रियदर्शन

कहते हैं, सात साल की तपस्या के बाद बुद्ध को ज्ञान मिला था। कई साल गांव-देहातों और दलित बस्तियों की खाक छानने के बाद राहुल गांधी को भी ज्ञान मिला है। उनका ज्ञान बताता है कि गरीबी एक मनःस्थिति है-स्टेट ऑफ माइंड- जिससे कोशिश करके उबरा जा सकता है। इस नए आशावादी दर्शन के लिए भारत के गरीबों को उनका ऋणी होना चाहिए। यह संतोष परम धर्म के आगे की अवधारणा है। इससे गरीबों को अपनी गरीबी से उबरने में मदद मिलेगी। उन्हें बस सोचना है कि वे गरीब नहीं हैं। जैसे अमीर सोचते हैं कि वे अमीर नहीं हैं। वे और अमीर होने की कोशिश करते हैं। गरीब और गरीब होने की कोशिश नहीं करते, अपने-आप हो जाते हैं।

राहुल गांधी की परिभाषा सरकारी तंत्र के आगे की है। सरकारी तंत्र सोचता रहा कि 28 रुपये या 32 रुपये कमाने वाला व्यक्ति गरीब है। लोगों ने बहुत शोर मचाया कि यह सरकारी परिभाषा बहुत अमानवीय है। शोर मचाने वालों को मालूम था कि 28 या 32 रुपये में तो किसी कायदे की जगह पॉपकॉर्न तक नहीं मिलता। कुछ बेकायदा जगहों की खोज करके उन्होंने पाया कि वहां तो 10 या 12 रुपये में पेट भर खाना संभव नहीं है। उनकी बहस अपनी जगह चल ही रही थी कि राहुल गांधी ने एक ही झटके में सारी बहस खत्म कर दी- बिल्कुल भारतीय दर्शन की परंपरा में कह डाला कि मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। यानी आदमी मन से गरीब होता है, अपनी स्थिति से नहीं।

हिंदी के बड़े लेखक निर्मल वर्मा ने कभी गरीबी और दरिद्रता के बीच फर्क किया था। वे कहा करते थे कि गरीबी में एक अभिमान होता है, दरिद्रता में एक ओछापन। हिंदुस्तान पहले गरीब था, लेकिन स्वाभिमानी था। उसका हीरो गिरे हुए पैसे नहीं उठाता था, अपनी फटी हुई कमीज को झंडे की तरह अपनी पहचान बनाता घूमता था। उदारीकरण के बाद का नया हिंदुस्तान जेब में भी पैसे लिए घूमता है और सड़क पर गिरे हुए दूसरों के पैसे भी उठा लेता है। उसका हीरो नए जमाने का बिग बॉस है जो

करोड़पति बनाने का धंधा करके मशहूर हुआ है।

ब्राजील के प्रख्यात शिक्षाशास्त्री पाउलो फ्रेरे ने अपनी किताब उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र की भूमिका में लिखा है कि वे गरीब शब्द लिखना पसंद नहीं करते। गरीब लिखने से लगता है कि कोई अपनी नियति से गरीब है। फ्रेरे उसकी जगह उत्पीड़ित शब्द का इस्तेमाल करते हैं। यानी वे मानते हैं कि गरीब कोई नहीं है, सब उत्पीड़ित हैं, उनका किसी ने उत्पीड़न किया है, उनके हिस्से का न्याय, उनके हिस्से की रोटी छीनी है।

राहुल गांधी जैसे इस अवधारणा को सिर के बल खड़ी कर देते हैं। वे गरीबों को उनकी रोटी, उनका न्याय लौटाने का प्रयत्न नहीं करते, उनसे आग्रह करते हैं कि वे अपनी स्थिति से मुक्त हों और अपने घरे से बाहर हो लें। लेकिन वे अपनी स्थिति से मुक्त कैसे हों? उनके खेत छीन लिए गए हैं, उनका समाज उजाड़ा जा चुका है, उनकी जमीन डूब चुकी है, उनके जंगल कट चुके हैं, उनका हुनर बेमानी बना दिया गया है। उनका कारोबार नष्ट हो चुका है। उनके पास दो ही विकल्प हैं- या तो खुदकुशी करके अपनी यातना से फौरन मुक्त हो लें या इस नए विराट दानवी तंत्र के चक्के का एक छोटा सा पहिया बनकर एक बेदखल-विस्थापित, हांफती-लाचार जिंदगी जिएं और एक धीमी मौत का इंतजार करें। तीसरा रास्ता नक्सली हो जाने का है लेकिन वह स्टेट ऑफ माइंड नहीं है, स्टेट के खिलाफ है जिसके लिए शासन की बंदूक दगती है।

ऐसे में इकलौता उपाय वही बचता है जो राहुल गांधी ने सुझाया है। गरीब अपने दिमाग से निकाल दे कि वह गरीब है। भूख लगने पर भूलने की कोशिश करे कि भूख लगी है। ठंड लगने पर कल्पना करे कि बगल में आग जल रही है। और जब सूरज तप रहा हो और पास का पोखर सूख गया हो तो उसे स्वीमिंग पुल मानकर उसकी ठंडक महसूस करे। फिर वह जल्द ही अपनी गरीबी से निजात पा जाएगा, क्योंकि इसके बाद रोग-शोक-दुख-ताप झेलने वाली उसकी नश्वर काया उससे दूर हो चुकी होगी।